कुछ धार्मिक प्रश्नों का उचित समाधान



-श्रीराम शर्मा आचार्य

कुछ धार्मिक प्रश्नों का उचित समाधान

❖

लेखक :
श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ७.०० रुपये

भूमिका

इस समय संसार में सर्वत्र बुद्धिवाद की प्रधानता है । हर विषय को 'क्यों' और 'कैसे' की कसौटी पर कसा जाता है । जो बात इस कसौटी पर खरी उतरती है, उसे ही मान्यता दी जाती है, शेष को अमान्य करार दे दिया जाता है ।

हिन्दू धर्म में अनेक मान्यताऐं, विचारधाराऐं, प्रथाऐं तथा रीतियाँ ऐसी हैं, जिनका ठीक-ठीक कारण समझने में कच्चे तार्किकों को बड़ी कठिनाई होती है । एक ओर तो उसके लाभों को ठीक प्रकार समझ नहीं पाते, दूसरी ओर उनमें घुसे हुए दोषों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देखते हैं । ऐसी दशा में उन्हें धार्मिक प्रथाऐं ढोंग, पाखण्ड, भ्रम, मूर्खता, अन्धविश्वास प्रतीत होती हैं । ब्राह्मणों के कमाने-खाने का धन्धा या पोंगा पन्थियों की बेवकूफी कह कर उन महत्वपूर्ण प्रथाओं की उपेक्षा, उपहास, तिरस्कार करते एवं घृणा की दृष्टि से देखते हैं ।

यदि ऐसी ही अनास्था रही तो हिन्दू संस्कृति को भारी आघात लगने की आशंका है । तत्व द्रष्टा ऋषियों ने मानव जाति के परम कल्याण के लिए जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया था, उनका इस प्रकार अपरिपक्व बुद्धि द्वारा उपहास होना बहुत शोचनीय है । ऐसी शोचनीय स्थिति से ऊपर उठने के लिए उन तथ्यों पर बुद्धि संगत प्रकाश डालना आवश्यक है । इस पुस्तक में दान, श्रद्धा, देव और तीर्थ आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है । हो सका तो अन्य बातों पर प्रकाश डालने के लिए पाठकों के सामने और भी पुस्तकें प्रस्तुत की जावेंगी ।

-श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रमुख धार्मिक प्रश्नों का उचित समाधान

आदेश बनाम विवेक

सिद्धांतों का परीक्षण करना आवश्यक है क्योंकि परस्पर विरोधी सिद्धांतों का सर्वत्र अस्तित्व प्राप्त होता है । एक ओर जहाँ हिंसा को, बलिदान या कुर्बानी को, धर्मों में समर्थन प्राप्त है, वहाँ ऐसे भी धर्म हैं जो जीवों की हत्या तो दूर उन्हें कष्ट पहुँचाना भी पाप समझते हैं । इसी प्रकार ईश्वर, परलोक, पुनर्जन्म, अहिंसा, पवित्र पुस्तक, अवतार, पूजा विधि, कर्मकाण्ड, देवता आदि विषयों के मतभेदों से धार्मिक क्षेत्र भरे पड़े हैं । सामाजिक क्षेत्रों में वर्णभेद, स्त्री अधिकार, शिक्षा, रोटी, बेटी आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचारों की प्रबलता है । राजनीति में प्रजातन्त्र, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, अधिनायकवाद, समाजवाद आदि अनेक प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराऐं काम कर रही हैं । उपरोक्त सभी प्रकार की विचारधाराऐं आपस में खूब टकराती भी हैं । उनके समर्थक और विरोधी व्यक्तियों की संख्या भी कम नहीं है ।

जबकि सिद्धांतों में इस प्रकार के घोर मतभेद विद्यमान हैं तो एक निष्पक्ष जिज्ञासु के लिए, सत्य शोधक के लिए उनका परीक्षण आवश्यक है । जब तक यह परख न लिया जाय कि किस पक्ष की बात सही है, किसकी गलत–तब तक सत्य के समीप तक नहीं पहुँचा जा सकता । यदि परीक्षा और समीक्षा को आधार न बनाया जाय तो किसी अन्य प्रकार से उपयोगी और अनुपयोगी की परख नहीं हो सकती ।

'महाजनो येन गतो स पन्थाः' के अनुसार महाजनों का, बड़े आदमियों का अनुसरण करने की प्रणाली प्रचलित है । साधारणतः लोग सैद्धान्तिक बातों के सम्बन्ध में अधिक माथा पच्ची करना पसन्द नहीं करते । दूसरों की नकल करना सुगम पड़ता है । निकटवर्ती बड़े आदमी जो कह दें, उसे मान लेने में दिमाग पर जोर नहीं डालना पड़ता । अधिकांश जनता की मनोवृत्ति ऐसी ही होती है । परन्तु इस प्रणाली से सत्य–असत्य की समस्या सुलझती नहीं क्योंकि जिन्हें हम महापुरुष, महाजन समझते हैं, संभव है वे भ्रान्त रहे हों और दूसरे लोग जिन्हें महापुरुष समझते हैं, सम्भव है उन्हीं की बात

ठीक हो । जबकि अनेक व्यक्ति एक प्रकार के विचार वाले महाजन की बात ठीक मानते हैं और उसी प्रकार अनेक व्यक्ति दूसरे महाजन के दूसरे प्रकार के विचारों को मान्यता देते हैं तब यह निर्णय कठिन हो जाता है कि इन दोनों में किसका कथन उचित है, किसका अनुचित ?

महापुरुष दो प्रकार से अपने विचारों को व्यक्त करते हैं:-(१) लेखनी द्वारा, (२) वाणी द्वारा । वाणी द्वारा प्रकट किये हुए विचार क्षणस्थायी होते हैं, इसलिए उन्हें चिरस्थाई करने के लिए लेखबद्ध किया जाता है । विचारों के व्यवस्थित क्रम को, लेखन को ही ग्रन्थ या पुस्तक कहते हैं । जिन ग्रन्थों में धार्मिक या आध्यात्मिक विचार लिपि बद्ध होते हैं, उन्हें शास्त्र कहते हैं । शास्त्रों को लोग स्वतन्त्र सत्ता का स्थान देने लगे हैं । जैसे देवता की अपनी एक स्वतंत्र सत्ता समझी जाती है, वैसे ही शास्त्र की भी स्वतंत्र सत्ता बनने लगी हैं । परन्तु बात ऐसी नहीं है । वे महाजनों के विचार ही तो हैं । जैसे महाजन भ्रान्त हो सकते हैं, होते हैं, वैसे ही शास्त्र भी हो सकते हैं । एक शास्त्र द्वारा दूसरे शास्त्र के अभिमत का खण्डन करना यही प्रकट करता है कि एक समान श्रेणी के महाजनों में प्राचीन काल में भी उसी प्रकार मतभेद रहता था जैसा कि आजकल अनेक समस्याओं के संबंध में हमारे नेता आपसी मतभेद रखते हैं ।

आज नेताओं के मतभेद में से छानकर हम वही बात ग्रहण करते हैं जो हमारी बुद्धि को अधिक उचित और आवश्यक जँचती है । किसी नेता के मत से सहमति न रखते हुए भी उसके प्रति आदरभाव रहता है, इसी प्रकार स्वर्गीय महाजनों, महापुरुषों के लेखबद्ध विचार प्रणाली के संबंध में भी होना चाहिए । शास्त्र का अन्धानुकरण नहीं होना चाहिए वरन् उनके प्रकाश में सत्य को ढूँढ़ना चाहिए । अन्धानुकरण किया भी नहीं जा सकता क्योंकि कभी-कभी एक ही शास्त्र में दो विरोधी आदर्श मिलते हैं । हमारे शास्त्रों में जीवित प्राणियों को मारकर अग्नि में होम देने का भी विधान है और जीव मात्र पर दया करने का भी । दोनों ही आदेश पवित्र धर्म ग्रन्थों में मौजूद हैं । वे शास्त्र हमारे परम आदरणीय और मान्य हैं तो भी इनके आदेशों में से हम वही बात आचरण में लाते हैं जो बुद्धि संगत, उचित और आवश्यक दिखाई पड़ती है ।

हिन्दू धर्म किसी व्यक्ति या उसके लेखबद्ध विचारों को अत्यधिक महत्व नहीं देता । चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा महापुरुष, ऋषि, महात्मा या देवदूत ही क्यों न रहा हो । हिन्दू धर्म में सिद्धांतों की समीक्षा और उसके बुद्धि संगत अंश को ही ग्रहण करने की परिपाटी का समर्थन किया गया है । किसी

बड़े से बड़े व्यक्ति या ग्रन्थ से मतभेद रखने और उसके मन्तव्यों को स्वीकार करने न करने की उसमें पूर्ण सुविधा है । हाँ, किसी की महानता को कम करने की आज्ञा नहीं है । महापुरुषों और पवित्र ग्रन्थों का समुचित आदर करते हुए भी उनकी सम्मति में से बुद्धि संगत अंश को ही ग्रहण करने का आदेश है । इसी आदेश के आधार पर प्राचीन समय में सच्चे जिज्ञासुओं ने सत्य की शोध की है और अब भी वही मार्ग अपनाना होता है ।

हिन्दू धर्म में भगवान् बुद्ध को ईश्वर का अवतार माना गया है । दस अवतारों में उनकी गणना है । इससे अधिक ऊँचा आदर, श्रद्धा, महत्व और क्या हो सकता है ? भगवान् बुद्ध भी हिन्दुओं के लिए वैसे ही पूज्य हैं, जैसे अन्य अवतार । उनके महान् व्यक्तित्व, त्याग, तप, संयम, ज्ञान एवं साधन के आगे सहज ही हर व्यक्ति का मस्तक नत हो जाता है । उनके चरणों पर हृदय के अन्त:स्थल से निकली हुई गहरी श्रद्धा के फूल चढ़ा कर हम लोग अपने को धन्य मानते हैं । इतने पर भी भगवान् बुद्ध के विचारों का हिन्दू धर्म में प्रबल विरोध है । श्री शंकराचार्य ने उनके मत का खण्डन करने का प्राण-प्रण से प्रयत्न किया है । बौद्ध विचारों को, उनके सम्प्रदाय को स्वीकार करने के लिए कोई हिन्दू तैयार नहीं है तो भी उनके व्यक्तित्व में वह भगवान् का दर्शन करता है ।

बात यह है कि व्यक्तित्व और सिद्धांत दो भिन्न वस्तुएें हैं । कोई सिद्धांत इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि उसे अमुक महापुरुष ने या अमुक ग्रन्थ ने प्रकाशित किया है । इसी प्रकार किसी घृणित व्यक्ति द्वारा कहे जाने या प्रतिपादन किये जाने से कोई सिद्धांत अमान्य नहीं ठहरता । यदि कोई चोर यह कहे कि 'सत्य बोलना उचित है' तो उसे इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह बात चोर ने कही है । चोर का घृणित व्यक्तित्व भिन्न बात है और 'सत्य बोलने' का सिद्धांत अलग चीज है । दोनों को मिला देने से तो बड़ा अनर्थ हो जायगा । चूँकि चोर ने सत्य बोलने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है इसलिए वह सिद्धांत अमान्य नहीं ठहराया जा सकता । इसी प्रकार कोई बड़ा महात्मा किसी अनुपयोगी बात का उपदेश करे तो उसे मान्य नहीं ठहराया जा सकता । कई अघोरी साधु अभक्ष्य भक्षण करते हैं । यद्यपि उनकी तपश्चर्या ऊँची होती है तो भी उनके आचरण का कोई अनुकरण नहीं करता । निश्चय ही व्यक्तित्व अलग चीज है और सिद्धांत अलग चीज है । महात्मा कार्लमार्क्स, ऐंजिल, लेनिन आदि का चरित्र बड़ा ही ऊँचा था, वे अपने विषय के उत्कट

विद्वान भी थे । उनके उज्ज्वल व्यक्तित्व के लिए दुनियाँ सिर नवाती हैं, पर उनका अनीश्वरवादी मत मान्य नहीं किया जाता ।

प्राचीन समय में भी आज की भांति ही परस्पर विरोधी मत प्रचलित थे । जैसे आज अनेकानेक विचारधाराओं के मतभेद पर बारीक दृष्टि डालकर उसमें से उपयोगी तत्व ग्रहण करने को विवश होना पड़ता है, वही बात प्राचीन समय के सम्बन्ध में भी लागू होती है । आधुनिक महापुरुषों के विचारों से जीवन निर्माण कार्य में हमें मदद मिलती है, उसी प्रकार प्राचीन काल के स्वर्गीय महापुरुषों के लेखबद्ध विचारों से, धर्मग्रंथों से लाभ उठाना चाहिए । परन्तु अन्ध भक्त किसी का नहीं होना चाहिए । यह हो सकता है कि प्राचीन काल की और आज की स्थिति में अन्तर पड़ गया हो जिससे तब के विचार आज के लिए उपयोगी न रहे हों । यह भी हो सकता है कि उनने किसी बात को अन्य दृष्टिकोण से देखा हो और आज उसे किसी अन्य दृष्टि से देखा जा रहा हो । एक समय समझा जाता था कि चातक स्वाति नक्षत्र का ही पानी पीता है, पर अब प्राणि शास्त्र के अन्वेषकों ने देखा है कि चातक रोज पानी पीता है । हंसों का मोती चुगना या दूध पानी को अलग कर देना भी अब अविश्वस्त ठहरा दिया गया है । इसी प्रकार अन्य अनेक बातों में भी प्राचीन काल के सिद्धांतों में और आज की शोधों में अन्तर आ गया है । इन अन्तरों के संबंध में हमें परीक्षक बुद्धि से कोई मत निर्धारित करना पड़ता है । आधुनिक या प्राचीन होने से ही कोई सिद्धांत मान्य या अमान्य नहीं ठहरता । शास्त्रकारों का भी यही मत है कि "बालक के भी युक्तियुक्त वचनों को मान ले परन्तु यदि युक्ति विरुद्ध हो तो ब्रह्मा की भी बात को तृण के समान त्याग दे ।"

शास्त्र बनाम विवेक के प्रश्न को भी हमें इसी आधार पर सुलझाना पड़ेगा । शास्त्रों की संख्या बहुत बड़ी है, उनमें परस्पर विरोधी सिद्धांतों के पक्ष विपक्ष में पर्याप्त सामग्री भरी पड़ी है । उनमें से किसे ठीक समझें, किसे गलत इसका निर्णय हमें अपनी विवेक बुद्धि से आज के देश, काल, परिस्थिति और आवश्यकता को देखते हुए करना होगा ।

श्राद्ध का रहस्य

श्रद्धा से श्राद्ध शब्द बना है । श्रद्धापूर्वक किये हुए कार्य को श्राद्ध कहते हैं । सत्कार्यों के लिए, सत्पुरुषों के लिए आदर की, कृतज्ञता की भावना रखना श्रद्धा कहलाता है । उपकारी तत्वों के प्रति आदर प्रकट करना, जिन्होंने अपने को किसी प्रकार लाभ पहुँचाया है उनके लिए कृतज्ञ होना श्रद्धालु का आवश्यक कर्तव्य है । ऐसी श्रद्धा हिन्दू धर्म का मेरुदण्ड है । इस श्रद्धा को हटा दिया जाय तो हिन्दू धर्म की सारी महत्ता नष्ट हो जायेगी और वह एक निःस्वत्व छूँछ मात्र रह जायगा । श्रद्धा हिन्दू धर्म का एक अनिवार्य अंग है इसलिए श्राद्ध उसका धार्मिक कृत्य है ।

माता, पिता और गुरु के प्रयत्न से बालक का विकास होता है । इन तीनों का उपकार मनुष्य के ऊपर बहुत अधिक होता है । उस उपकार के बदले में बालक को इन तीनों के प्रति अटूट श्रद्धा मन में धारण किये रहने का शास्त्रकारों ने आदेश किया है । "मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव" इन श्रुतियों में इन्हें देव-नर तन धारी देव मानने और श्रद्धा रखने का विधान किया है । स्मृतिकारों ने माता को ब्रह्मा, पिता को विष्णु और आचार्य को शिव का स्थान दिया है । यह कृतज्ञता की भावना सदैव बनी रहे, इसलिए गुरुजनों का चरण स्पर्श, अभिवन्दन करना नित्य के धर्म कृत्यों में सम्मिलित किया गया है । यह कृतज्ञता की भावना जीवन भर धारण किये रहना आवश्यक है । यदि इन गुरुजनों का स्वर्गवास हो जाय तो भी मनुष्य को वह श्रद्धा कायम रखनी चाहिए । इस दृष्टि से मृत्यु के पश्चात् पितृ पक्षों में, मृत्यु की वर्ष तिथि के दिन, पर्व समारोहों पर श्राद्ध करने का श्रुति-स्मृतियों में विधान पाया जाता है । नित्य की संध्या के साथ तर्पण जुड़ा हुआ है । जल की एक अंजली भर कर हम स्वर्गीय पितृ देवों के चरणों में उसे अर्पित कर देते हैं । उनके नित्य चरण स्पर्श, अभिवन्दन की क्रिया दूसरे रूप में इस प्रकार पूरी होती है । जीवित और मृत पितरों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का यह धर्मकृत्य किसी न किसी रूप में मनुष्य पूरा करता है और एक आत्म संतोष का अनुभव करता है ।

इन्हीं विशेष अवसरों पर, श्राद्ध पर्वों में हम अपने पूर्वजों के लिए

ब्राह्मणों को अन्न, वस्त्र, पात्र आदि का दान करते हैं और यह आशा करते हैं कि यह वस्तुऐं हमारे पितृ देवों को प्राप्त होंगी । इस संबंध में आज एक तर्क उपस्थित किया जाता है कि दान की हुई वस्तुऐं पितरों को न पहुँचेंगी । स्थूल दृष्टि से, भौतिकवादी दृष्टिकोण से यह विचार ठीक भी है । जो पदार्थ श्राद्ध में दान दिये जाते हैं वे सब उसी के पास रहते हैं, जिसे दिये जाते हैं । खिलाया हुआ भोजन निमंत्रित व्यक्ति के पेट में जाता है तथा अन्न, वस्त्र आदि उसके घर जाते हैं । यह बात इतनी स्पष्ट है जिसके लिए कोई तर्क उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं । जो व्यक्ति श्राद्ध करता है, वह भी इस बात को भली प्रकार जानता है कि जो वस्तुऐं दान दी गईं थीं, वे कहीं उड़ नहीं गईं वरन् जिसने दान लिया था, उसी के प्रयोग में आईं हैं । इस प्रत्यक्ष बात में किसी तर्क की गुंजायश नहीं है ।

अब प्रश्न दान के फल के संबंध में रह जाता है । यदि यह भी कहा जाय कि दान का पुण्य फल दाता को ही मिलता है तो इससे श्राद्ध की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती । मनुष्य को लोभ वश दान आदि सत्कर्मों में प्रायः अरुचि रहती है । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने कुछ पर्व, उत्सव, स्थान, काल ऐसे नियत किये हैं, जिन पर दान करने के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया गया है । उन विशिष्ठ पर्वों, अवसरों पर दान करने के विविध भेद-प्रभेद और महात्म्यों का वर्णन किया गया है । मनुष्य में विवेक से रूढ़ि का अंश अधिक होता है । जैसे स्वास्थ्य ठीक न होते हुए भी दानादि सत्कर्म करने पड़ते हैं । उत्तम कर्म का फल उत्तम ही होता है, चाहे वह इच्छा से, अनिच्छा से या किसी विशेष अभिप्राय से किया जाय । श्राद्ध के बहाने जो दान-धर्म किया जाता है, उसका फल उस स्वर्गीय व्यक्ति को अवश्य ही प्राप्त न होता हो तो भी दान करने वाले के लिए वह कल्याण कारक है ही । सत्कर्म कभी भी निरर्थक नहीं जाते । श्राद्ध की उपयोगिता इसलिए भी है कि इस रूढ़ि के कारण अनिच्छापूर्वक भी धर्म करने के लिए विवश होना पड़ता है ।

श्राद्ध से श्रद्धा जीवित रहती है । श्रद्धा को प्रकट करने का जो प्रदर्शन होता है, वह श्राद्ध कहा जाता है । जीवित पितरों और गुरुजनों के लिए श्रद्धा प्रकट करने, श्राद्ध करने के लिए उनकी अनेक प्रकार से सेवा, पूजा तथा सन्तुष्टि की जा सकती है । परन्तु स्वर्गीय पितरों के लिए श्रद्धा प्रकट करने का, अपनी कृतज्ञता को प्रकट करने का कोई निमित्त निर्माण करना पड़ता है ।

यह निमित्त श्राद्ध है । स्वर्गीय गुरुजनों के कार्यों, उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने से ही छुटकारा नहीं मिल जाता । हम अपने अवतारों, देवताओं, ऋषियों, महापुरुषों और पूजनीय पूर्वजों की जयन्तियाँ धूमधाम से मनाते हैं, उनके गुणों का वर्णन करते हैं, उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं और उनके चरित्रों एवं विचारों से प्रेरणा ग्रहण करते हैं । यदि कहा जाय कि मृत व्यक्तियों ने तो दूसरी जगह जन्म ले लिया होगा, उनकी जयन्तियाँ मनाने से कया लाभ ? तो यह तर्क बहुत अविवेक पूर्ण होगा । मनुष्य मिट्टी का खिलौना नहीं है, जो फूट जाने पर कूड़े के ढेर में तिरस्कार पूर्वक फेंक दिया जाय । उसका कीर्ति शरीर युग युगान्तों तक बना रहता है और वह उतना ही काम करता रहता है, जितना कि जीवित शरीर करता है । आज मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर कृष्ण, दानी कर्ण, त्यागी दधीचि, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, ध्रुव, प्रह्लाद, वीर हकीकतराय, बन्दा वैरागी, शिवाजी, महावीर, नानक, कबीर आदि जीवित नहीं हैं, पर उनका कीर्ति-शरीर उतना ही काम करता है जितना कि उनके जीवित शरीर ने किया था । करोड़ों व्यक्तियों को उनसे प्रेरणा और प्रकाश प्राप्त होता है ।

मनुष्य भावना प्रधान प्राणी है । व्यापारिक दृष्टिकोण से ही वह हर पहलू को नहीं सोचता वरन् अधिकांश कार्य अपनी अन्तःवृत्तियों को तृप्त करने के लिए करता है । वृद्ध पुरुषों की सेवा, बालकों के भरण-पोषण का कठिनाई भरा दायित्व निर्वाह, पीड़ितों की सहायता, पुण्य-परोपकार आदि में व्यापारिक दृष्टि से कोई फायदा नहीं । यदि केवल व्यापार बुद्धि ही प्रधान हो तो बूढ़े माता-पिता को कोई रोटी क्यों दे ? बच्चों को पालने-पोषने, पढ़ाने, विवाह आदि करने का झंझट उठाने के लिए कोई तैयार क्यों हो ? ऐसी प्रवृत्ति हो जाने पर तो मानव जाति पिशाचों की सेना बन जायगी । पर सौभाग्य से ऐसा नहीं है । मनुष्य भावनाशील प्राणी है, वह प्रत्यक्ष लाभ की अपेक्षा अप्रत्यक्ष लाभ, हृदयगत भावनाओं को प्रधानता देता है । कृतज्ञता उसकी श्रेष्ठ वृत्ति है । इसे वह जीवितों के प्रति ही प्रकट करके संतुष्ट नहीं रह सकता । मृतकों के उपकारों के लिए भी उसे श्राद्ध करना पड़ता है ।

संसार के सभी देशों में, सभी धर्मों में, सभी जातियों में, किसी न किसी रूप में मृतकों का श्राद्ध होता है । मृतकों के स्मारक, कब्र, मकबरे संसार भर में देखे जाते हैं । पूर्वजों के नाम पर नगर, मुहल्ले, संस्थाऐं, मकान, कुएँ, तालाब, मंदिर, मीनार आदि बनाकर उनके नाम तथा यश को चिर स्थायी रखने

का प्रयत्न किया जाता है । उनकी स्मृति में पर्वों एवं जयन्तियों का आयोजन किया जाता है । यह अपने-अपने ढंग के श्राद्ध ही हैं । "क्या फायदा ?" वाला तर्क केवल हिन्दू श्राद्ध पर ही नहीं, समस्त संसार की मानव प्रवृत्ति पर लागू होता है । असल बात यह है कि प्रेम, उपकार, आत्मीयता एवं महानता के लिए मनुष्य स्वभावत: कृतज्ञ होता है और जब तक उस कृतज्ञता के प्रकट करने का प्रत्युपकार स्वरूप कुछ प्रदर्शन न कर ले तब तक उसे आन्तरिक बेचैनी रहती है । इस बेचैनी को वह श्राद्ध द्वारा ही पूरी करता है । ताजमहल क्या है ? एक पत्नी का उसके पति द्वारा किया हुआ श्राद्ध है । इस श्राद्ध से उस पति को क्या फायदा हुआ यह नहीं कहा जा सकता पर इतना निश्चित है कि पति की अन्तरात्मा को इससे बड़ी शांति मिली होगी ।

शाहजहाँ को उसके पुत्र औरंगजेब ने कैद करके जेल में पटक दिया और स्वयं राजा बन गया । जेल में सड़ते-सड़ते शाहजहाँ जब मृत्यु के निकट पहुँचा तो उसने आँसू भर कर कहा-"मेरे इस्लाम परस्त बेटे से तो वे काफिर (हिन्दू) अच्छे जो मृतक पितरों तक को पानी पिलाते हैं ।" श्राद्ध और तर्पण का मूल आधार अपनी कृतज्ञता और आत्मीयता की सात्विक वृत्तियों को जागृत रखना है । इन प्रवृत्तियों का जीवित रहना संसार की सुख-शांति के लिए नितान्त आवश्यक है । उस आवश्यक वृत्ति का पोषण करने वाले श्राद्ध जैसे अनुष्ठान भी आवश्यक हैं ।

हिन्दू धर्म के कर्मकाण्डों में आधे से अधिक श्राद्ध तत्व से भरा हुआ है । सूरज, चाँद, ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी, अग्नि, जल, कुआँ, तालाब, मरघट, खेत, खलिहान, भोजन, चक्की, चूल्हा, तलवार, कलम, जेवर, रुपया, घड़ा, पुस्तक आदि निर्जीव पदार्थों की विवाह या अन्य संस्कारों में अथवा किन्हीं विशेष अवसरों पर पूजा होती है । यहाँ तक कि नाली या घूरे तक की पूजा होती है । तुलसी, पीपल, वट, आँवला आदि पेड़-पौधे तथा गौ, बैल, घोड़ा, हाथी आदि पशु पूजे जाते हैं । इन पूजाओं से उन जड़ पदार्थों या पशुओं को कोई लाभ नहीं होता, परन्तु पूजा करने वाले के मन में श्रद्धा एवं कृतज्ञता का भाव जरूर उदय होता है । जिन जड़-चेतन पदार्थों से हमें लाभ मिलता है, उनके प्रति हमारी बुद्धि में उपकृत भाव होना चाहिए और उसे किसी न किसी रूप में प्रकट करना ही चाहिए । यह श्राद्ध ही तो है । मृतकों का ही नहीं, जीवित, जानदारों और बेजुबानों का भी हम श्राद्ध करते हैं । ऐसे श्राद्ध के लिए हमारे शास्त्रों में पग-पग पर आदेश हैं ।

मरे हुए व्यक्तियों को श्राद्ध कर्म से कुछ लाभ होता है कि नहीं ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि होता है, अवश्य होता है । संसार एक समुद्र के समान है जिसमें जल कणों की भांति हर एक जीव है । विश्व एक शिला है तो व्यक्ति उसका एक परमाणु । हर एक आत्मा जो जीवित या मृत रूप में इस विश्व में मौजूद है अन्य समस्त आत्माओं से सम्बद्ध है । संसार में कहीं भी अनीति, युद्ध, कष्ट, अनाचार, अत्याचार हो रहे हैं, तो सुदूर देशों के निवासियों के मन में भी उद्वेग उत्पन्न होता है । जब जाड़े का प्रवाह आता है तो हर चीज ठण्डी होने लगती है और गर्मी की ऋतु में हर चीज की ऊष्णता बढ़ जाती है । छोटा सा यज्ञ करने से उसकी दिव्य गन्ध तथा दिव्य भावना समस्त संसार के प्राणियों को लाभ पहुँचाती है । इसी प्रकार कृतज्ञता की भावना प्रकट करने के लिए किया हुआ श्राद्ध समस्त प्राणियों में शांतिमयी सद्भावना की लहरें पहुँचाता है । यह सूक्ष्म भाव तरंगें सुगन्धित पुष्पों की सुगन्ध की तरह तृप्तिकारक, आनन्द और उल्लासवर्द्धक होती है, सद्भावना की सुगन्ध जीवित और मृतक सभी को तृप्त करती है । इन सभी में अपने स्वर्गीय पितर भी आ जाते हैं । उन्हें भी श्राद्ध-यज्ञ की दिव्य तरंगें आत्म शांति प्रदान करती हैं ।

मर जाने के उपरान्त जीव का अस्तित्व मिट नहीं जाता, वह किसी न किसी रूप में इस संसार में ही रहता है । स्वर्गस्थ, नरकस्थ, गर्भस्थ, निर्देह, सदेह आदि किसी न किसी अवस्था में इस लोक में ही बना रहता है । इसके प्रति दूसरों की सद्भावनाऐं तथा दुभार्वनायें आसानी से पहुँचती रहती है । स्थूल वस्तुऐं एक स्थान से दूसरे स्थान तक देर में कठिनाई से पहुँचती हैं परन्तु सूक्ष्म तत्वों के संबंध में यह कठिनाई नहीं है, उनका यहाँ से वहाँ आवागमन आसानी से हो जाता है । हवा, गर्मी, प्रकाश, शब्द आदि को बहुत बड़ी दूरी पार करते हुए कुछ विलम्ब नहीं लगता । विचार और भाव इससे भी सूक्ष्म हैं, वे उस व्यक्ति के पास जा पहुँचते हैं, जिसके लिए वे फेंके जाँय । सताये हुए व्यक्तियों की आत्मा को जो क्लेश पहुँचाता है, उसका शाप शब्दभेदी तीर या राकेट-बम की तरह निश्चित स्थान पर जा पहुँचता है । सेवा, संतुष्टि, उपकृत, अहसानमंद, कष्ट उद्धरित व्यक्ति की सद्भावना, दुआ, वरदान, आशीर्वाद भी इसी प्रकार उस उपकारी व्यक्ति के पास पहुँचते हैं, जिसने कोई परोपकार किया है । कोई व्यक्ति जीवित हो या मृतक उसके पास जहाँ कहीं भी रह रहे लोगों के शाप, वरदान पहुँचते हैं, उसे मालूम हो पावे या न हो पावे, वे शाप, वरदान उसे दुःख

या सुख देने वाले परिणाम उसके सामने उपस्थित करते रहते हैं । इसी प्रकार कृतज्ञता की, श्रद्धा की भावना भी उस व्यक्ति के पास पहुँचती है, जिसके लिए वह भेजी जाती है, फिर चाहे वह स्वर्गीय व्यक्ति किसी भी योनि या किसी भी अवस्था में क्यों न हो । श्राद्ध करने वाले का प्रेम, आत्मीयता, कृतज्ञता की पुण्ययुक्त सद्भावना उस पितर आत्मा के पास पहुँचती हैं और उसे आकस्मिक, अनायास, अप्रत्याशित, सुख, शांति, प्रसन्नता, स्वस्थता एवं बलिष्ठता प्रदान करती हैं । कई बार कई व्यक्तियों को आकस्मिक, अकारण आनन्द एवं संतोष का अनुभव होता है, संभव है यह उनके पूर्व संबंधियों के श्राद्ध का ही फल हो ।

श्रद्धा-कृतज्ञता हमारे धार्मिक जीवन का मेरुदण्ड है । यह भाव निकल जाय तो धार्मिक समस्त क्रियाऐं व्यर्थ, नीरस एवं निष्प्रयोजन हो जायेंगी । श्रद्धा के अभाव में यज्ञ करना और भट्टी जलाना एक समान है । देव मूर्तियों और बालकों के खिलौनों में, शास्त्र श्रवण और कहानी सुनने में, प्रवचनों और ग्रामोफोन के रिकार्डों में कोई अन्तर नहीं रह जायगा । अश्रद्धा एक दावानल है, जिसमें ईश्वर, परलोक, कर्मफल, धर्म, सदाचार, दान-पुण्य, परोपकार, प्रेम एवं सेवा-सहायता परसे विश्वास उठता है और अन्त में अश्रद्धालु व्यक्ति अपनी छाया पर, अपने आप पर भी अविश्वास करने लगता है । भौतिकवादी नास्तिक दृष्टिकोण और धार्मिक आस्तिक दृष्टिकोण में प्रधान अन्तर यही है । नीरस, शुष्क, कठोर दृष्टिकोण वाला भौतिकवादी व्यक्ति स्थूल व्यापार बुद्धि से सोचता है । वह कहता है पिता मर गया, अब उससे हमारा क्या रिश्ता ? जहाँ होगा अपनी करनी भुगत रहा होगा, उसके लिए परेशान होने से हमें क्या मतलब ? इसके विपरीत धार्मिक दृष्टि वाला व्यक्ति स्वर्गीय पिता के अपरिमित उपकारों का स्मरण करके कृतज्ञता के बोझ से नत-मस्तक हो जाता है, उस उपकारमयी, स्नेहमयी, देवोपम स्वर्गीय मूर्ति के निःस्वार्थ प्रेम और त्याग का स्मरण करके उसका हृदय भर आता है । उसका हृदय पुकारता है-'स्वर्गीय पितृ देव ! तुम सशरीर यहाँ नहीं हो, पर कहीं न कहीं इस लोक में आपकी आत्मा मौजूद है । आपके ऋण भार से दबा हुआ मैं बालक आपके चरणों में श्रद्धा की अंजुली चढ़ाता हूँ ।' इस भावना से प्रेरित होकर वह बालक जल की एक अंजुली भर कर तर्पण करता है ।

तर्पण का वह जल उस पितर के पास नहीं पहुँचा, वहीं धरती में गिर कर विलीन हो गया, यह सत्य है । यज्ञ में आहुति दी गई सामग्री जल कर वहीं

खाक हो गई, यह भी सत्य है। पर यह असत्य है कि 'इस यज्ञ या तर्पण से किसी का कुछ लाभ नहीं हुआ।' धार्मिक कर्मकाण्ड स्वयं अपने आप में कोई बड़ा महत्व नहीं रखते, महत्वपूर्ण तो वे भावनाऐं हैं जो उन अनुष्ठानों के पीछे काम करती हैं। मनुष्य भावनाशील प्राणी है। दूषित, तमोगुणी, नीच भावनाओं को ग्रहण करने से वह असुर, पिशाच, राक्षस एवं शैतान बनता है और ऊँची सात्विक, पवित्र, धर्ममयी भावनाऐं धारण करके वह महापुरुष, ऋषि, देवता, अवतार बन जाता है। यह भावनाऐं ही मनुष्य को सुखी, समृद्ध, स्वस्थ, सम्पन्न, वैभवशाली, यशस्वी, पराक्रमी तथा महान बनाती हैं और इन भावनाओं के कारण ही दुःखी, रोगी, दीन, दास, तिरस्कृत तथा तुच्छ हो जाता है। शारीरिक दृष्टि से लगभग सभी एक समान से ही होते हैं, पर उनके बीच जो जमीन आसमान का अन्तर दिखाई पड़ता है यह भावनाओं का ही अन्तर है। धार्मिक दृष्टिकोण सद्‌भावनाओं, सात्विक-परमार्थिक वृत्तियों को ऊँचा उठाता है। धार्मिक कर्मकाण्डों का आयोजन इसी आधार पर होता है। धर्म हृदय का ज्ञान है। अन्तरात्मा में सतोगुणी तरलता उत्पन्न करना धर्म का, धार्मिक कर्मकाण्डों का मूल प्रयोजन है। समस्त कर्मकाण्डों की रचना का यही आधार है। स्थूल व्यापार बुद्धि से धार्मिक कृत्यों और भावों की उपयोगिता किसी की समझ में आवे चाहे न आवे पर इस दृष्टि से उनका असाधारण महत्व है। इन कर्मकाण्डों में कुछ समय और धन अवश्य खर्च होता है, पर उसके फलस्वरूप वे तत्व प्राप्त होते हैं, जो मनुष्य के प्रेरणा केन्द्र का निर्माण करते हैं। उसके अन्तरंग तथा बहिरंग जीवन को सुख-शांति से पूरित करते हैं।

ब्राह्मणत्व रहित, विद्या-विवेक-आचरण-त्याग-तपस्या से रहित वे व्यक्ति जो शूद्रोपम होते हुए भी वंश परंपरा के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं, उन्हें श्राद्ध का या अन्य किसी प्रकार के दान प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। श्राद्ध के निमित्त किया हुआ दान या भोजन उन्हीं सच्चे ब्राह्मणों को दिया जाना चाहिए जो वस्तुतः उसके अधिकारी हैं। श्रुतियों में कहा गया है कि ब्राह्मण अग्निमुख है, उसमें डाला हुआ अन्न देवता एवं पितरों को प्राप्त होता है, उससे विश्व का कल्याण होता है। परन्तु वे ब्राह्मण ही होने चाहिए-अग्निमुख। त्याग, तपस्या, विद्या और विवेक की यज्ञ अग्नि जिनके अन्तःकरण में प्रज्ज्वलित है, वही अग्निमुख हैं। अग्नि में न डालकर कीचड़ में यदि हवन सामग्री डाली जाय तो कुछ पुण्य न होगा। इसी प्रकार अग्निमुख ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्यों को दिया हुआ दान भी निरर्थक होता है। शास्त्र मत है कि कुपात्रों को दिया हुआ दान,

दाता को नरक में ले जाता है ।

श्राद्ध करना चाहिए जीवितों का भी, मृतकों का भी । जिन्होंने अपने साथ में किसी भी प्रकार की कोई भलाई की है, उसे बार बार प्रकट करना चाहिए क्योंकि इससे उपकार करने वालों को संतोष तथा प्रोत्साहन प्राप्त होता है । वे अपने ऊपर अधिक प्रेम करते हैं और अधिक घनिष्ट बनते हैं, साथ साथ अहसान स्वीकार करने से अपनी नम्रता एवं मधुरता बढ़ती है । उपकारों का बदला चुकाने के लिए किसी न किसी रूप में सदा ही प्रयत्न करते रहना चाहिए जिससे अपने ऊपर रखा हुआ ऋण भार हलका हो । जो उपकारी, पूजनीय एवं आत्मीय पुरुष स्वर्ग सिधार गये हैं, उनके प्रति भी हमें कृतज्ञता रखनी चाहिए और समय-समय पर उस कृतज्ञता को प्रकट भी करना चाहिए । जल की एक अंजली, दीपक या पुष्प से श्राद्ध किया जा सकता है । श्राद्ध में भावना ही प्रधान है । श्रद्धा भावना का हमें कभी परित्याग न करना चाहिए । श्रद्धा की परंपरा समाप्त हो जाने पर तो पिता को कैद कर लेने वाले औरंगजेब ही चारों ओर दृष्टिगोचर होने लगेंगे ।

तीर्थों की उपयोगिता

तीर्थ यात्रा के महात्म्यों का धर्म शास्त्रों में सुविस्तृत वर्णन मिलता है। चारों धाम, सात पुरी, द्वादश ज्योतिर्लिंगम् तथा अनेक सरिता, सर, वन, उपवन तीर्थों की श्रेणी में गिने जाते हैं। इनके दर्शन, भजन, पूजन, अर्चन करने तथा इनमें निवास, स्नान करने में धर्म लाभ होने की हिन्दू धर्म में सुस्थिर मान्यता है। इन तीर्थों में लाखों-करोड़ों की संख्या में हिन्दू जनता धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर जाती है। विशेष पर्वों पर तो तीर्थों में असाधारण भीड़ें होती हैं। करोड़ों रुपया इस अवसर पर हस्तान्तरित होता है।

आधुनिक युग बुद्धिवाद का युग कहा जाता है। इस युग में हर बात को बुद्धिवाद की तराजू पर तोलने की प्रथा है। जब सभी विषयों में खोज और अन्वेषण हो रहे हैं तो धार्मिक प्रथाओं के सम्बन्ध में भी विचार-विमर्श होना स्वाभाविक है। तीर्थों के संबंध में भी नई पीढ़ी की बुद्धिवादी जनता विचार करती है। किन्तु जब उनकी नव विकसित बाल बुद्धि इनकी वास्तविकता और उपयोगिता को ठीक प्रकार समझ नहीं पाती तो कुतर्क करने लगती है। तीर्थों के अस्तित्व को अनुपयोगी, हानिकारक तथा अवांछनीय तक बताया जाता है। आइये, इस प्रश्न पर एक विवेचनात्मक दृष्टि डालें।

तीर्थों की स्थापना करने में हमारे तत्वदर्शी पूर्वजों ने बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। जिन स्थानों पर तीर्थ स्थान स्थापित किये गए हैं, वे जलवायु की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी हैं। जिन सरिताओं का जल विशेष शुद्ध, उपयोगी, हलका तथा स्वास्थ्यप्रद पाया गया है, उनके तटों पर तीर्थ स्थापित किये गए हैं। गंगा के तट पर सबसे अधिक तीर्थ हैं। कारण यह है कि गंगा का जल संसार की समस्त नदियों से अधिक उपयोगी है। उस जल में स्वर्ण, पारा, गंधक तथा अभ्रक जैसे उपयोगी खनिज पदार्थ मिले रहते हैं, जिसके सम्मिश्रण से गंगाजल एक प्रकार की दवा बन जाता है। जिसके प्रयोग से उदर रोग, चर्म रोग तथा रक्त विकार आश्चर्यजनक रीति से अच्छे होते हैं। कुष्ठ एवं क्षय रोग को दूर करने की गंगाजल में महत्वपूर्ण क्षमता मौजूद है। इसी प्रकार अन्य नदी सरोवरों में अपने-अपने गुण हैं। इन

गुणों की उपयोगिता का तीर्थों के निर्माण में प्रधान रूप से ध्यान रखा गया है ।

आजकल वायु परिवर्तन के लिए लोग पहाड़ों पर जाया करते हैं । रोगी और दुर्बलों को डाक्टर लोग वायु परिवर्तन के लिए किन्हीं स्वास्थ्यप्रद स्थानों में भेजते हैं । यही दृष्टिकोण तीर्थों में भी रखा गया है । जहाँ पर भूमि, वनस्पति, ऋतु आदि के आधार पर स्वास्थ्यप्रद वायु पाई गई है, वहाँ तीर्थ कायम किए गए हैं । इन स्थानों पर कुछ समय निवास करके वहाँ के जलवायु का सेवन करने से तीर्थ यात्रियों के स्वास्थ्य पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है-इस तथ्य से प्रोत्साहित होकर विवेकशील आचार्यों ने वहाँ तीर्थ बना दिये ।

तीर्थ यात्रा में पैदल चलने का विशेष महत्व बताया गया है । पैदल चलना शरीर को सुगठित करने और नाड़ी समूह तथा माँस-पेशियों को बलवान बनाने के लिए आवश्यक उपाय है । आयुर्वेद शास्त्रों में प्रमेह चिकित्सा के लिए सौ योजन अर्थात् चार सौ कोस पैदल चलने का आदेश दिया है । अधिक चलने से जंघाओं की नाड़ियाँ और माँस-पेशियों का अच्छा व्यायाम होता है और वे परिपुष्ट हो जाती हैं । ढीली नस-नाड़ियों की संकुचन शक्ति शिथिल पड़ जाने के कारण वीर्य नीचे की ओर स्रावित होता रहता है और स्वप्नदोष, प्रमेह, पेशाब के साथ चिकनाई जाना, शीघ्रपतन, बहुमूत्र आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं । इस व्यथा से छुटकारा पाने के लिए कटि प्रदेश तथा जंघाओं के नाड़ी समूह तथा माँस-पेशियों को ठीक करना पड़ता है । आयुर्वेद की सम्मति में इसका अच्छा उपचार नियमित रूप से पैदल चलना है । जिससे कटि, पेडू और जँघायें सुदृढ़ हो जावें । तीर्थ यात्रा इस उद्देश्य को बड़ी अच्छी तरह पूरा करती है । पैदल तीर्थ यात्रा करने से स्वस्थ व्यक्तियों का शरीर गठन ऐसा अच्छा हो जाता है, जिससे प्रमेह आदि का आक्रमण नहीं हो पाता । जिन्हें मूत्र रोग होते हैं, उन्हें उन व्यथाओं से बिना दवा-दारू में धन लुटाये स्थायी रूप से लाभ हो जाता है ।

जो लोग लम्बी यात्रायें नहीं कर पाते थे, सुदूर देश में जाने की जिन्हें सुविधायें न होती थीं, उन्हें किसी एक ही तीर्थ की परिक्रमाऐं करने को कहा जाता था । पेट के बल दण्डवती परिक्रमाऐं करना आँतों के रोगों के लिए उपयोगी है, तिल्ली एवं जिगर भी इससे मजबूत होते हैं और उनके बहुत से विकार दूर हो जाते हैं । पर्वतों पर बहुत ऊँचे कुछ तीर्थ बनाये गये हैं । ऊँची चढ़ाई चढ़ने से हड्डियों की संधियाँ मजबूत होती हैं तथा गठिया होने का भय

नहीं रहता । फेंफड़ों को मजबूत बनाने के लिए ऊँचे चढ़ना और नीचे उतरना असाधारण रूप से उपयोगी है । पहाड़ी प्रदेशों के रहने वाले व्यक्ति जिन्हें ऊँचे चढ़ना और नीचे उतरना पड़ता है, चौड़ी छाती वाले होते हैं, उन्हें तपैदिक जैसे फेफड़े के रोगों से ग्रसित नहीं होना पड़ता । कंधे पर गंगाजल की कांवर रखकर शिवरात्रि पर यात्रा की जाती है । इससे कंधे की नसों पर दवाब पड़ता है । इन नसों का मूलाधार चक्र की गुदा नाड़ियों से संबंध है । अतएव गुदा स्थान पर उसका प्रभाव होता है और बवासीर सरीखे रोगों की संभावना नष्ट हो जाती है ।

स्वास्थ्य लाभ के उपरोक्त दृष्टिकोण से तीर्थ यात्रा महत्वपूर्ण है । इसके अतिरिक्त देशाटन से ज्ञानवृद्धि का जो लाभ होता है, वह भी कम उपयोगी नहीं है । जीवन की बहुमुखी उन्नति के लिए मनुष्य जाति के स्वभाव, आचार, विचार, व्यवहार, रहन-सहन, प्रथा, विश्वास, कार्यक्रम, परिपाटी, अर्थ नीति आदि का अध्ययन करने की बड़ी भारी आवश्यकता है । देशाटन करने से मूर्ख मनुष्य भी बहुत कुछ अंशों में बुद्धिमान बन जाते हैं और घर से बाहर पैर न रखने वाले कूप-मंडूक, ऊँची शिक्षा प्राप्त कर लेने पर भी अर्द्ध मूर्ख बने रहते हैं । देशाटन केवल मनोरंजन नहीं है वरन् एक ठोस शिक्षाक्रम है । जितना वास्तविक ज्ञान मनुष्य दो महीने के देशाटन में प्राप्त कर सकता है, उतना दो वर्ष तक पुस्तकें पढ़ने पर नहीं पा सकता । उच्च श्रेणी के मनुष्य अपनी आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा शारीरिक स्थिति अच्छी बनाने के लिए प्रतिवर्ष कुछ न कुछ समय देशाटन के लिए अवश्य निकालते हैं । बेवकूफ लोग अन्दाज लगाते हैं कि यह सैर सपाटे का समय व्यर्थ जाता है, पर सच बात यह है कि दस घण्टे पिले रहकर आदमी जितना उपार्जन करता है, उन सैर-सपाटे के दिनों में कई दृष्टियों से बहुत ऊँची चीजें कमा लेता है । तीर्थ यात्रा के अवसर पर अनेक स्थलों को देखने, अनेक प्रकार के मनुष्यों की विभिन्नताऐं समझने, विविध स्थलों की विशेषताऐं जानने का अलभ्य अवसर मिलता है । अनेक कठिनाइयों का एवं दुष्ट, चोर, ठग और धूर्तों का सामना करना पड़ता है । इस संघर्ष में मनुष्य की चेतना, जागरूकता, सतर्कता एवं विवेचना शक्ति बढ़ती है । यात्रा के अनुभवों से परिपुष्ट होकर मनुष्य का बौद्धिक स्वास्थ्य बढ़ता है और वह बढ़ोत्तरी शारीरिक स्वास्थ्य की तरह ही महत्वपूर्ण है ।

देश के विविध भागों के किसी एक स्थान पर जब एक समय में बहुत लोग पहुँचते हैं तो ऐसा अवसर स्वर्ण अवसर होता है । व्यापारी लोग

अपनी वस्तुऐं उस वृहद् जन समूह के हाथों बेचते हैं, ग्राहक लोग उन एकत्रित व्यापारियों पर नई-नई वस्तुऐं देखते हैं और दुष्प्राप्य चीजों को सुविधापूर्वक खरीद लेते हैं । इससे देश की व्यापारिक, औद्योगिक एवं आर्थिक स्थिति मजबूत होती है । आगन्तुक लोग एक ही स्थान पर विविध प्रदेशों की विभिन्नताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । एक दूसरे से परिचय, सम्पर्क और हेल-मेल बढ़ा सकते हैं । कोई प्रचारक अपने विचारों को ऐसे किसी एक स्थान पर रहकर भी अनेक व्यक्तियों में फैला सकता है । जन सम्पर्क के इस स्वर्ण संयोग से आगन्तुकों को लाभ पहुँचे, इस दृष्टि से तीर्थों में अनेक प्रकार के आयोजन होते थे । कला, प्रदर्शनी, संगीत, भाषण, कीर्तन, प्रवचन, सत्संग, सभा, सम्मेलन, अभिनय आदि द्वारा उपयोगी ज्ञान सामग्री प्राप्त करने की आगन्तुकों को यहाँ अनेक सुविधाऐं होती थीं ।

तीर्थ पुरोहित-पण्ड्या (सद्बुद्धि के भण्डार), तपस्वी, विद्वान, बुद्धिमान, पथ प्रदर्शक, ऋषि कल्प, निस्पृह ब्रह्मवेत्ताओं के आश्रम में जाकर यात्री ठहरते थे । इन स्थावर और जंगम दोनों ही प्रकार के तीर्थों में स्नान करने से यात्री का तन और मन स्वस्थ, पुष्ट, चैतन्य एवं प्रफुल्लित हो जाता था । भूमि पर मंदिर, जलाशय आदि के रूप में स्थित स्थावर तीर्थ हैं और ऋषि, तपस्वी, परोपकारी, उच्च आत्मा वाले महापुरुष जंगम तीर्थ कहे जाते हैं । शास्त्रकारों ने स्थावर तीर्थ से भी जंगम तीर्थों का महात्म्य अधिक विस्तार पूर्वक बताया है । तीर्थ यात्रा में दोनों ही प्रकार के तीर्थों का समन्वय होता था, अतएव शारीरिक और बौद्धिक दोनों ही दृष्टियों से वहाँ जाने वालों को समुचित लाभ मिल जाता था ।

जीवन की व्यवहारिक कठिनाइयों को सुलझाने के लिए वे तीर्थ पुरोहित महत्वपूर्ण पथ प्रदर्शन करते थे । उन्हें विविध स्थानों की सुविस्तृत जानकारी होती थी, फलस्वरूप बेटी-बेटों के विवाह, विविध स्थानों की फसल, व्यापारिक स्थिति, जीविका, शिक्षा, चिकित्सा आदि अनेक विषयों में इन तीर्थ केन्द्रों पर पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती थी और उन जानकारियों के आधार पर ऐसे ऐसे लाभ होते थे जो यात्रा में लगे समय तथा पैसे की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान होते थे । यात्री लोग अनेक दृष्टियों से इतने लाभ में रहते थे कि सांसारिक, व्यापारिक बुद्धि से देखने पर भी तीर्थ यात्री फायदे में रहते थे ।

तीर्थ स्थानों के ऐतिहासिक महत्त्व भी हैं । उन स्थानों से हमारे पूर्वज

महापुरुषों के पुनीत चरित्रों का सीधा संबंध है । ये स्थान उन महापुरुषों के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं की स्मृति दिलाते हैं जिससे दर्शक को प्रेरणा, प्रोत्साहन, जीवन, बल, साहस तथा प्रकाश मिलता है । इतिहास स्वयं जीवन निर्माता है । अतीत काल के अनुभवों से भविष्य निर्माण का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है । पुस्तकों में अंकित इतिहास की अपेक्षा उन संबंधित स्थलों के स्मृति चिह्नों के आधार पर पढ़ा हुआ इतिहास अधिक प्रेरणाप्रद होता है, अधिक हृदयंगम बन जाता है ।

तीर्थों की स्थापना इस प्रकार की गई है कि इस सुविस्तृत विशाल देश के महत्वपूर्ण भागों की यात्रा छूटने न पावे । चारों धाम (बद्रीनाथ, जगन्नाथ, रामेश्वर तथा द्वारिका) देश के चार कोनों पर स्थित हैं । इनकी यात्रा करने वाले को सारे देश की परिक्रमा करनी पड़ती है और भारत की एक सूत्र में पिरोई संस्कृति, विभिन्न रीति-नीतियाँ, भाषाओं तथा भावनाओं के सम्पर्क में आना पड़ता है, ज्योतिर्लिंगों, पुरियों, पुण्य सरिताओं एवं क्षेत्रों की यात्रा का क्रम भी ऐसा ही है, जिनकी यात्रा में बड़े महत्वपूर्ण भूखण्डों का सम्पर्क होता है । यह संपर्क देश की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक उन्नति एवं राष्ट्रीय एकता की भावना सुदृढ़ करने के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है ।

मानवीय विद्युत विज्ञान की दृष्टि से यह सिद्ध है कि जिन स्थानों में विशिष्ट आत्म बल वाले महापुरुष निवास करते हैं, वहाँ का वातावरण उनकी आत्म विद्युत से भर जाता है । जहाँ कोई अहिंसा की साधना वाले तेजस्वी महात्मा निवास करते हैं वहाँ का वातावरण ऐसा शांतिदायक हो जाता है कि गौ और सिंह आपस में प्रेमपर्वूक निर्भय होकर रहते हैं । अपना स्वाभाविक बैर भाव भूल जाते हैं । इस प्रकार जहाँ कोई अवतारी, कलाधारी, अलौकिक आत्माएँ रही हैं, वहाँ का वातावरण भी उनके दिव्य तेज से भर जाता है और वह बहुत समय तक, उन आत्माओं के चले जाने के चिरकाल पश्चात् तक बना रहता है । तपस्वी महात्मा अपनी तपश्चर्या के लिए प्राय: ऐसे स्थानों को चुना करते हैं, जहाँ इस प्रकार का आत्म तेज पूर्वकाल से ही विद्यमान हो क्योंकि इससे उनको बल प्राप्त होता है, साधना के विघ्नों से अनायास ही बहुत अंशों में छुटकारा मिलता है । इस परम्परा के अनुसार एक ही स्थान पर एक-एक करके अनेकों महात्माओं के आत्म तेज के परत जमा होते जाते हैं । उस भूमि, जल, वायु, आकाश में सर्वदा दिव्य तेज भरा रहता है । कल्प-कल्पान्त से असंख्य महात्माओं, अवतारी पुरुषों का सुदृढ़ आत्म तेज जिन स्थानों में पाया गया है,

वहीं तत्वदर्शी मनीषियों ने तीर्थ स्थापित किये हैं। वस्तुतः वे स्थान "सिद्धपीठ" हैं । वहाँ के वातावरण में सुलभता से सिद्धि प्रदान करने वाले तत्व भरे रहते हैं । इन तत्वों के प्रभाव से अध्यात्म मार्ग के पथिकों को असाधारण सफलता प्राप्त होती है । जिस प्रकार वृक्ष की छाया में बैठने से सभी प्रकार के लोगों को शीतलता अनुभव होती है, उसी प्रकार इन सिद्धपीठों की छाया में पदार्पण करने से सुख-शांति एवं संकट निवारण की आशीर्वादात्मक भावनाऐं सुलभतापूर्वक हर एक को प्राप्त होती हैं । कभी कभी तो ऐसे अप्रत्याशित लाभ लोगों को मिलते देखे जाते हैं जिन्हें दैवी कृपा, तीर्थ महात्म्य, पूर्व पुण्यों का फल या क्या नाम दिया जाय, यह समझ नहीं आता ।

यह ठीक है कि वर्तमान काल में तीर्थों की स्थिति बड़ी लज्जाजनक हो गई है । वहाँ अनाचार, व्यभिचार, ठगी, धूर्तता आदि का बोलबाला है । इस सचाई से कोई इनकार नहीं कर सकता । संसार व्यापी अनैतिकता से तीर्थ भी अछूते नहीं रहे हैं । हर क्षेत्र में काम करने वाली बुराइयाँ तीर्थों में भी घुस पड़ी हैं । चोर, ठग, धूर्त, बेईमान, उठाईगीरि, व्यभिचारी, पाखण्डी, लोभी, नीच, निर्लज्ज व्यक्ति धर्म की खाल ओढ़ कर इन पुनीत स्थानों में कुछ से कुछ बन जाते हैं । हत्यारे, डाकू, चोर तथा अनेक भयंकर प्रकार के अपराधी अपनी सुरक्षा के लिए तथा जीविका की सुविधा के लिए साधु-संत बन जाते हैं । इसी प्रकार ब्राह्मणत्व एवं पौरोहित्य गुणों से रहित व्यक्ति ब्राह्मणों के वेष ओढ़कर जनता को ठगते हैं । सच्चे ब्राह्मणों तथा महात्माओं की कमी तथा धूर्तों की बढ़ोत्तरी ने आज तीर्थों को बदनाम कर दिया है । उन्हें अब धूर्तता, बदमाशी, ढोंग और लूट का घर समझा जाने लगा है । वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए जनता की यह मान्यता उचित भी है । यह सब होते हुए भी तीर्थों की आधार शिला एक बड़े उपयोगिता वाद के ऊपर खड़ी होने के कारण उनका महत्व पूर्णतया किसी भी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता ।

विषधर सर्प लिपटे रहने से चन्दन का वृक्ष त्याज्य नहीं माना जाता, काँटेदार डाली पर लगा हुआ गुलाब का फूल निन्दित नहीं होता, गंदी नालियाँ गिरने पर भी गंगाजी की महिमा मिट नहीं जाती । इसी प्रकार कुछ स्वार्थी, धूर्त एवं दुश्चरित्र लोगों की उपस्थिति के कारण तीर्थों की महिमा समाप्त नहीं हो सकती । हानिकारक विकार उत्पन्न होने पर उन विकारों को दूर करना चाहिए, उन विकारों के भय से मूल वस्तु को त्याग कर बैठना बुद्धिमत्ता नहीं । जुओं के भय से न तो कोई कपड़े फेंक देता है और न सिर के बाल घुटा डालता है ।

खटमलों के भय से चारपाई पर सोना कोई नहीं त्यागता । कुछ स्वार्थियों की दुष्टता के कारण तीर्थों की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता । उनके द्वारा होने वाले लाभ इतने अधिक गंभीर एवं महान हैं कि इस छोटे से कारण की वजह से वे उपेक्षणीय नहीं हो सकते ।

तीर्थों में दोष उत्पन्न हो गये हैं, उन्हें सुधारना चाहिए । (१) दर्शनीय स्थानों को स्वच्छ, शुद्ध एवं स्वास्थ्यप्रद बनाया जाना चाहिए, (२) भीड़ में स्त्रियों से कुचेष्टा करने वालों, जेबकतरों, उठाईगीरों, ठगों तथा पाखण्डियों को रोकने का प्रयत्न होना चाहिए । (३) मंदिरों में जमा तथा चढ़ावे के रूप में चढ़ने वाली सम्पत्ति का अधिकांश भाग लोक हितकारी सार्वजनिक कार्यों में व्यय होना चाहिए । (४) निःस्वार्थ, सेवाभावी, निर्लोभी, विद्वान, सच्चे, सदाचारी एवं सहृदय पण्डा-पुरोहितों से ही सम्पर्क रखना चाहिए । (५) दान देते समय पात्र-कुपात्र का पूरी तरह अन्वेषण कर लेना चाहिए । (६) यात्रियों को अतिथि समझकर उनकी समुचित सेवा सहायता करने वाली सेवा-समितियाँ होनी चाहिए । (७) सच्चे विद्वान ब्राह्मणों को तीर्थों में ऐसे आश्रम स्थापित करने चाहिए जहाँ जिज्ञासुओं को अपनी क्षुधा बुझाने के लिए सच्चा बौद्धिक भोजन मिल सके । (८) हर तीर्थ में वहाँ का परिचय देने वाली पुस्तकें ऐसी सस्ती मूल्य की उपलब्ध होनी चाहिए, जिसमें वहाँ के ऐतिहासिक तथ्यों का तर्क संगत विज्ञान बुद्धि के साथ शिक्षात्मक ढंग से वर्णन हो । (९) देव मंदिरों में बेजीटेबिल घी, विदेशी वस्त्र, चर्बी की मोमबत्ती आदि अपवित्र पदार्थों के उपयोग को हतोत्साहित एवं वर्जित किया जाना चाहिए । (१०) यात्रियों के लिए तीर्थ हर दृष्टि से उपयोगी बन सकें, ऐसी व्यवस्था करने वाली शिक्षणशालाऐं तथा संस्थाऐं खुलनी चाहिए । (११) पैदल तीर्थ यात्रा को प्रोत्साहन मिलना चाहिए ।

इस प्रकार के सुधार होने से तीर्थों की वास्तविक महिमा पुनः उज्ज्वल हो सकती है । जो दोष दृष्टिगोचर हों, उनका संशोधन करते हुए तीर्थों की उपयोगिता का हम सब को लाभ उठाना चाहिए ।

दान में विवेक की आवश्यकता

भिक्षा वृत्ति एक प्रकार का महान् उत्तरदायित्व है, जिसका भार उठाने के लिए बिरले ही व्यक्तियों को साहस होना चाहिए । शास्त्रकारों ने भिक्षा की अग्नि से उपमा दी है । जैसे अग्नि को बड़ी सावधानी से स्पर्श करने की, पूर्ण सतर्कता के साथ यथोचित स्थान में रखने की और विवेकपूर्वक प्रयोग में लाने की आवश्यकता होती है, वैसे ही भिक्षा को ग्रहण करना, ग्रहण करके उसे रखना और फिर उसे उपयोग में लाना बहुत ही सावधानी का काम है । जिस प्रकार थोड़ी सी असावधानी बरतने पर अग्नि की एक छोटी सी चिनगारी बड़े भयंकर, घातक परिणाम उपस्थित कर देती है, वही हाल भिक्षा का है । यदि इस 'अग्नि वृत्ति' का थोड़ा भी गलत उपयोग किया जाय तो बड़े व्यापक पैमाने पर भयानक अनिष्ट उत्पन्न हुए बिना नहीं रहते ।

(१) यज्ञार्थाय और (२) विपद् वारणाय-इन दो कार्यों के लिए ही शास्त्रकारों ने भिक्षा का विधान किया है । इन दो कार्यों के लिए ही भिक्षा दी जानी चाहिए । यज्ञ का अर्थ है-पुण्य, परोपकार, सत्कार्य, लोक कल्याण, सुख-शांति की वृद्धि, सात्विकता का उन्नयन । जिन कार्यों से समष्टि की-जनता की-संसार में श्रेय और अभ्युदय की अभिवृद्धि होती हो, उन लोकोपयोगी कार्यों के लिए भिक्षा ली जानी चाहिए । शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग, सहयोग, सुख, सुविधा बढ़ाने के कार्यों के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं वे तथा मानवीय स्वभाव में सत् तत्व को, प्रेम, त्याग, उदारता, क्षमा, विवेक, धर्मपरायणता, ईश्वर प्रणिधान, दया, उत्साह, श्रम, सेवा, संयम आदि सद्गुणों को बढ़ाने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं-इन दोनों ही प्रकार के कार्यों को, अनुष्ठान को यज्ञ कहा जाता है । आजकल अनेक संस्थाऐं इस प्रकार के कार्य कर रही हैं । प्राचीन समय में कुछ व्यक्ति ही जीवित संस्था के रूप में जीवन भर एक निष्ठा से काम करते थे । स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की मृत्यु पर महात्मा गाँधी ने कहा था कि 'विद्यार्थी जी एक संस्था थे ।' जिनका जीवन निष्ठा पूर्वक, सब प्रकार के प्रलोभनों और भयों से विमुक्त होकर यज्ञार्थ लोक सेवा के लिए लगा रहता है वे व्यक्ति भी संस्था हैं । प्राचीन समय में ऐसे यज्ञ रूप ब्रह्म परायण व्यक्तियों को ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, पुरोहित, आचार्य, योगी, संन्यासी आदि नामों से पुकारते

थे । जैसे संस्थाओं की स्थापना के लिए आजकल दफ्तर कायम किये जाते हैं और इन दफ्तरों का मकानभाड़ा खर्च करना होता है, उसी प्रकार उन 'संस्था रूप व्यक्तियों', ऋषियों की आत्मा के रहने के मकान उनके शरीर का मकान भाड़ा, भोजन, वस्त्र आदि का निर्वाह व्यय, खर्च करना पड़ता था । जैसे मकान भाड़े के लिए और संस्थाओं के अन्य कार्यों के लिए धन जमा किया जाता है, वैसे ही दान, पुण्य, भिक्षा आदि द्वारा उन ऋषि संस्थाओं को पैसा वअन्य वस्तुऐं दी जाती थीं । उन ऋषियों का व्यक्तित्व उच्च, अधिक उच्च, इतना उच्च होता था जिसके सम्बन्ध में किसी प्रकार के संदेह की कल्पना तक उठने की गुंजायश न होती थी । इसलिए जनता उन्हें पैसा आदि देकर उनके सदुपयोग के संबंध में पूर्णतया निश्चिंत रहती थी, उसका हिसाब जाँचने की आवश्यकता न समझती थी । ऋषि लोग भिक्षा द्वारा प्राप्त धन का उत्तम से उत्तम सदुपयोग स्वयं ही कर लेते थे ।

देवपूजन, दान-दक्षिणा आदि के नाम पर लोग स्वयमेव समय-समय पर कई बहानों से संस्कार, पर्व, कथा, तीर्थ, पूजा, अनुष्ठान, व्रत, उद्यापन आदि के समय ब्राह्मणों को दान देते थे । उन ब्रह्म परायण संस्था व्यक्ति-ब्राह्मणों के द्वारा होने वाले लोकोपयोगी कार्यों से जनता पूरी तरह प्रभावित रहती थी और उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए उनके लिए समुचित साधन जुटाने के लिए धन व्यवस्था करने में कोई कमी नहीं रहने देती थी ।

व्यक्तिगत रूप से इन ब्राह्मणों की आवश्यकताऐं बहुत ही स्वल्प होती थीं । पीपल के छोटे-छोटे फल-पिप्पली खाकर निर्वाह करने वाले पिप्पलाद ऋषि थे । खेत काटने पर जो अन्न के दाने खेतों में फैले रह जाते थे, उन्हें बीनकर वे गुजारा कर लेते थे । रहने को फूंस की झोंपड़ी, पहनने को कटिवस्त्र, भोजन में कंद-मूल, इस निर्वाह को जुटा लेना कुछ खर्चीला न था । दान-दक्षिणा में प्राप्त धन वे लोग प्रायः लोकोपकारी कार्यों के लिए ही लगा देते थे । तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय, जिनमें तीस-तीस हजार छात्र पढ़ते थे और एक-एक हजार आचार्य पढ़ाते थे, एक दो नहीं सैकड़ों की संख्या में थे, जहाँ छात्रों और गुरुजनों का भोजन व्यय उन विश्वविद्यालयों की ओर से उठाया जाता था । यह धन दान द्वारा ही प्राप्त होता था । सर्जरी और चिकित्सा के सर्वोत्तम साधनों से सम्पन्न वृहत्तम अस्पताल इन ऋषियों द्वारा चलते थे । ज्योतिष, मनोविज्ञान, योग, धर्म, शिक्षा, नीति, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, शिल्प, राजनीति आदि के संबंध में उन ऋषियों की विचार सभाऐं बैठतीं थीं और महत्वपूर्ण

अनुसंधान करके तत्सम्बन्धी खोजों को ग्रन्थों के रूप में, उपदेशों के रूप में, अनुभव शालाओं के रूप में जनता के सामने उपस्थित करते थे । वायुयान, जलयान, रेडियो, युद्ध अस्त्र, रसायन आदि नाना प्रकार के वैज्ञानिक अनुसंधान करने के लिए ऋषियों के आश्रमों में ही प्रयोगशालाऐं रहती थीं । उनमें सदैव वैज्ञानिक अनुसंधान होते रहते थे । इस प्रकार के कार्यों का व्यय इस दान पर ही निर्भर रहता था ।

वे प्रातःस्मरणीय ब्राह्मण लोग केवल जनता के द्वारा दिये जाने वाले दान पर ही निर्भर न रहते थे, वरन् उनके घरों पर जाकर द्वार-द्वार पर भिक्षा भी माँगते थे । इस भिक्षाटन में बड़ा भारी रहस्य, महत्व और लाभ सन्निहित होता था । भिक्षा प्रयोजन को लेकर महात्मा लोग उन व्यक्तियों के घर पर भी स्वयमेव पहुँचते थे जो सत्संग के लिए ऋषि आश्रमों में पहुँचने का समय नहीं निकाल पाते थे । इन घरों में जाकर वे अधिक से अधिक पाँच ग्रास तक भिक्षा ग्रहण करते थे, इससे अधिक इसलिए नहीं लेते थे कि देने वाले पर अधिक भार न पड़े, उसकी आर्थिक स्थिति को आघात न पहुँचे । भिक्षा लेकर वे चम्पत न हो जाते वरन् दाता के घर की स्थिति मालूम करते थे और उसकी कठिनाइयों को हल करने को महत्वपूर्ण पथ प्रदर्शन करते थे । कहना न होगा कि इस प्रकार का भिक्षाटन उन लोगों का स्वर्ण सौभाग्य होता था जिनके घर पर ऐसे भिक्षुक जा पहुँचते थे । दो चार ग्रास अन्न देना या लेना कुछ महत्व नहीं रखता पर इस बहाने थोड़े समय के लिए भी उन्हें उन महात्माओं को अपने दरवाजे पर पधारने का सौभाग्य मिल जाता था, वे उनके बहुमूल्य उपदेशों से कृतकृत्य हो जाते थे । बीमारी, गरीबी, क्लेश, कलह, अनीति, भीति, भ्रान्ति आदि की दारुण कठिनाइयों से वह सत्संग, गृहस्थों को अनायास ही पार लगा देता था । आज वकील, डाक्टर, लीडर, वैज्ञानिक, प्रोफेसर आदि की सलाह या सेवा लेनी हो तो उसके बदले उनकी खुशामद के लिए मोटी रकम अदा करनी पड़ती है, परन्तु उस समय इन सब योग्यताओं के भण्डार ऋषि लोग पाँच ग्रास भिक्षा माँगने के लिए जनता जनार्दन के द्वार-द्वार पर पहुँचते थे और इस बहाने से जनता को अपनी बहुमूल्य सम्मत्तियों से उपकृत करते थे ।

इसके अतिरिक्त भिक्षा के दो और भी प्रयोजन हैं । एक तो यह कि दान देने से देने वाले को त्याग का, परोपकार का, पुण्य का आत्म संतोष प्राप्त होता था, दूसरा यह कि उन ऋषि कल्प ब्राह्मणों को अपने अभिमान एवं

अहंकार के परिमार्जन करते रहने का अवसर मिलता था । भीख माँग कर जीविका ग्रहण करने से विनय, नम्रता, निरभिमानता, कृतज्ञता एवं ऋणी होने का भाव उनके मन में जागृत बना रहता था । वे अपने में लोक सेवक, परोपकारी तथा महात्मा होने की अहम्मन्यता उत्पन्न न होने देने के लिए भिक्षुक की तुच्छ स्थिति ग्रहण करते थे । ऐसे भिक्षुकों को दान देते हुए देने वाले अपना मान अनुभव करते थे और लेने वाले निरभिमान बनते थे । इससे उन दोनों के बीच सुदृढ़ सौहार्द्र उत्पन्न होता था । भिक्षा वृत्ति करने वाले की अपेक्षा देने वाले को ही अधिक लाभ रहता था । इस परमार्थ और लोकहित की भावना से ब्रह्म जीवी महात्माओं के लिए भिक्षा का विधान किया गया था ।

इस प्रकार यज्ञार्थ भिक्षा ब्राह्मणों द्वारा ग्रहण की जाती थी । वे इस प्राप्त हुए धन को लोक कल्याण के, जनता की सुख-समृद्धि की वृद्धि के कार्यों में व्यय करते थे । अपना शरीर और मन उन्होंने परमार्थ में लगा रखा होता था । इन शरीरों की क्षुधा, तृषा, शील, धूप निवारण से रक्षा के लिए भी कुछ व्यय हो जाता था तो वह भी यज्ञ की आहुति के समान ही फलदायक होता था । ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा या भिक्षा देने का यही वास्तविक तात्पर्य था । ब्राह्मण इसीलिए भिक्षा जीवी होते थे । जो व्यक्ति या जो संस्था लोकहित के कार्यों में लगे हैं, वे ब्राह्मण हैं, उन्हें भिक्षा माँगने या प्राप्त करने का अधिकार है । यज्ञार्थ भिक्षा उचित है, शास्त्र सम्मत है । ब्रह्म कार्यों के लिए या ब्रह्मजीवी व्यक्तियों के लिए भिक्षा का प्रयोजन धर्म सम्मत है ।

इसके अतिरिक्त दूसरी श्रेणी 'विपद् वारणाय' है । संकटग्रस्तों का संकट दूर करने के लिए सहायता देना मानवीय अन्तःकरण का दैवी स्वभाव है । इस दैवी तत्व को सुरक्षित रखने एवं विकसित करने के लिए मनुष्य में दया उत्पन्न होती है । दुखियों का दुःख देखकर हर एक सच्चे मनुष्य का हृदय करुणा से पूरित हो जाता है और आँखें छलक पड़ती हैं । इस दैवी प्रेरणा को तृप्त करने से ही मनुष्य परमात्मा के निकट पहुँचता है । दूसरों को कष्ट में देखकर जो लोग अपना कलेजा पत्थर का कर लेते हैं, निष्ठुरता धारण कर लेते हैं, अनुदारता एवं स्वार्थपरता में निमग्न होकर उनकी ओर उपेक्षा प्रकट करते हैं, ऐसे मनुष्य असुरता को प्राप्त होकर नर पिशाच का जीवन बिताते हैं । पीड़ितों की सहायता करना, दुखियों को दुःख से छुड़ाना आवश्यक है । इसके लिए शरीर से, बुद्धि से, धन से जैसे भी बन पड़े सहायता करनी चाहिए । 'विपद् वारणाय' भिक्षा देनी चाहिए ।

अग्निकाण्ड, जल प्रवाह, अकाल, चोरी, आक्रमण, अन्याय, दुर्दैव आदि किसी आकस्मिक कारण से जो लोग असहाय हो गये हैं, जिनकी अपनी सामर्थ्य नष्ट हो गई हो, गिर पड़े हों, अपने पैर पर आप खड़े न हो सकते हों, उनको सहायता देने की आवश्यकता है। जिनका शरीर एवं मस्तिष्क उपार्जन शक्ति के लिए बिलकुल अनुपयुक्त हो गया हो, उनको सहायता देने की जरूरत है। इस प्रकार के व्यक्तियों को पैसे की सहायता जरूरी होती है। परन्तु अन्य अनेक प्रकार के पीड़ित ऐसे हैं, जिन्हें पैसे की नहीं, शरीर एवं बुद्धि की सहायता आवश्यक होती है। शोक, चिन्ता, उद्विग्नता, क्लेश, कलह, निराशा, भय, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ, तृष्णा, अहंकार, भ्रम, अज्ञान आदि मानसिक संकटों से अनेक मनुष्य ग्रसित होते हैं। वे उतना ही कष्ट पाते हैं जितना कि कठिन रोगों के रोगियों को कष्ट होता है। ऐसे लोगों की पैसे से सहायता हो जाय तो कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, उनके लिए बुद्धि द्वारा, विवेक द्वारा जो सहायता पहुंचाई जाती है, वही सच्ची सहायता है। जिनके पास पैसा है, जो आसानी से अपने स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त पैसा खर्च कर सकते हैं, उन्हें मुफ्त दवा बाँटना निरर्थक है। उन्हें उपयोगी चिकित्सा विधि का मार्ग बताना एवं उस मार्ग तक पहुँचने में क्रियात्मक सहायता देना पर्याप्त है। किसी करोड़पति अमीर को तपैदिक हो जाय तो उसे मुफ्त दवा की आवश्यकता नहीं, उत्तम चिकित्सक तथा उत्तम चिकित्सा स्थान के परिचय की आवश्यकता है। इस प्रकार की सहायता देना और उपयुक्त साधन से मिला देना पर्याप्त है।

गरीब आदमी को पैसा देने मात्र से काम नहीं चलता। उसे गरीबी से छुड़ाने के लिए किसी कारोबार में लगा देना होगा। बहुत से ऐसे गरीब हैं जिनकी शारीरिक योग्यताऐं कुछ काम करने योग्य हैं, बहुत से मनुष्य अंग-भंग, अंधे, असमर्थ भी होते हैं जो शरीर के अन्य अंगों से काम लेकर जीविका उपार्जन कर सकते हैं। जैसे लँगड़े आदमी हाथ से हो सकने वाले धंधे कर सकते हैं। अंधे, गूँगे, बहरे, कुबड़े भी किसी न किसी प्रकार की मजूरी कर सकते हैं। जिनके शारीरिक अंग असमर्थ हैं, उन्हें यदि पढ़ा-लिखा दिया जाय तो वे वाणी, विचार और बुद्धि से हो सकने वाले अध्यापकी आदि कार्य कर सकते हैं। गरीबों या असमर्थों को तात्कालिक, आरंभिक कुछ सहायता की आवश्यकता अवश्य होती है पर उनकी सच्ची सहायता यह है कि उन्हें समझा-बुझा कर काम करने, स्वतंत्र जीविका उपार्जन के लिए तैयार

किया जाय और उनके उपयुक्त काम ढूँढ़ देने की व्यवस्था बनाई जाय । इसी प्रकार अग्निकाण्ड, जल प्रवाह, अकाल, आक्रमण, चोरी आदि से पीड़ित व्यक्तियों को आरंभ में तात्कालिक सहायता पहुँचाने के बाद अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बनाने में मदद करनी चाहिए । विपत्ति में पड़े हुए व्यक्तियों को आरंभ में कुछ धन की सहायता आवश्यक होती है । परन्तु वस्तुत: उन्हें उठाकर खड़े कर देने के लायक साधन और मनोबल देने की अधिक जरूरत रहती है ।

स्थायी रूप से उन विपद् ग्रस्तों को भिक्षावृत्ति ग्रहण करने का अधिकार है जो शरीर और बुद्धि की दृष्टि से बिलकुल असमर्थ हैं । जिनको निकट कुटुम्बियों से सहायता प्राप्त करने की भी सुविधा नहीं है । अनाथ, बालक, गरीब, रोगी, पागल, अतिवृद्ध, अपाहिज तथा कोढ़ आदि अस्पृर्श्य रोगों वाले व्यक्ति स्थायी रूप से दान के अन्न से अपना निर्वाह कर सकते हैं । ऐसों की जीवन रक्षा करने के लिए जीवनोपयोगी अन्न, वस्त्र एवं निवास स्थान आदि की सुविधाऐं देना समाज का कर्तव्य है ।

यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि विपद् ग्रस्तों को दूसरों की वही सहायता लेनी चाहिए जो वे अपनी शेष शक्तियों से नहीं कर सकते । वह सहायता उन्हें उतने ही समय तक एवं उतनी ही मात्रा में लेनी चाहिए जिससे वे अपने पैरों पर खड़े हो जावें । फिर जो सहायता लें उसे कर्ज रूप से ग्रहण करें और मन में दृढ़ संकल्प रखें कि समर्थ होते ही उस सहायता को दूसरे पीड़ितों को ब्याज समेत चुका देंगे । असहाय या असमर्थ व्यक्तियों को भिक्षा अन्न के बदले लोक कल्याण की शुभकामनाऐं, आशीर्वादात्मक-प्रार्थनात्मक सद्भावनाऐं देते रहना चाहिए और मन में ध्यान रखना चाहिए कि इस जन्म में या अगले जन्म में समर्थ होने पर इस ऋण को समाज को पुन: लौटा देंगे ।

दान लेने और देने वाले के मन में यह प्रश्न पूरी सतर्कता के साथ उपस्थित रहना चाहिए कि इस पैसे का उपयोग (१) यज्ञार्थाय, (२) विपद् निवारणार्थ-इन दो कार्यों के अतिरिक्त और किसी तीसरे काम में तो नहीं होगा । जब यह पूर्ण निश्चय हो जाय तभी दान देना या लेना चाहिए । संसार में शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, आध्यात्मिक विभूतियों की संवृद्धि के लिए एवं पाप-तापों को हटाने के लिए जो प्रयत्न होते हैं, वे यज्ञ हैं और विपद् ग्रस्तों को अपने पैरों पर खड़ा कर देने के लिए एवं असमर्थों की

जीवन रक्षा के लिए जो कार्य किये जाते हैं, वे विपद् निवारण की श्रेणी में आते हैं। इन कार्यों में पैसा, समय, बल, बुद्धि के साथ ही आवश्यकता होने पर प्राण तक दे देने चाहिए। यह दान की शास्त्रीय मर्यादा है।

उपरोक्त शास्त्रीय मर्यादा के अतिरिक्त अन्य प्रयोजनों के लिए जो दान लिया या दिया जाता है, वह सब प्रकार अनिष्ट कर, घातक, भयंकर परिणाम उत्पन्न करने वाला तथा पाप कर्म है। अशास्त्रीय भिक्षा पाप, अनाचार, दु:ख, दुर्गुण एवं नरक की सृष्टि करती है। भिक्षा सचमुच एक लज्जा की चीज है। भिक्षा माँगने को सर्वत्र मृत्यु के समान कष्टदायक, अपमानजनक कहा है। सचमुच अशास्त्रीय भिक्षा अत्यन्त ही गर्हित है, वह नीचता, हीनता, निर्लज्जता एवं पशुता को प्रकट करती है।

हमारे देश एवं धर्म का यह दुर्भाग्य है कि आज अशास्त्रीय भिक्षा की जीविका पर निर्भर रहने वाले मनुष्यों की संख्या लाखों तक पहुँच गई है। पिछली सरकारी जनगणना के अनुसार भारतवर्ष में भिखारियों की संख्या ५६ लाख* के लगभग पहुँच गई है। इनमें से भिक्षा के वास्तविक अधिकारी उँगलियों पर गिनने लायक निकलेंगे। लोक कल्याणकारी जन सेवा के कार्यों में सर्वतो भावेन लगे हुए विद्वान्, निस्पृह ब्राह्मणों की संख्या अत्यन्त ही न्यून निकलेगी। सब कुछ त्याग कर संन्यास लेकर जनता-जनार्दन की आराधना में प्रवृत्त साधु-संन्यासी चिराग लेकर खोजने पडेंगे। आकस्मिक घोर अनिवार्य विपत्ति से पीड़ितों एवं असमर्थ, असहाय दरिद्रों की संख्या भी बहुत ही कम निकलेगी। इन छप्पन लाख भिक्षुकों में पाँच हजार भिक्षुक भी कठिनाई से ऐसे निकलेंगे जो शास्त्रीय भिक्षा के अधिकारी हैं, शेष साढ़े पचपन लाख तो ऐसे मिलेंगे जिन्होंने भिक्षा को एक लाभदायक व्यापार-व्यवसाय बना लिया है।

ब्राह्मणत्व के समस्त गुणों से रहित व्यक्ति भी अपने को इस आधार पर भिक्षा का अधिकारी बताते हैं कि हम ब्राह्मणों के वंशज हैं। यह झूठा दावा है। ब्राह्मणत्व कोई जागीर नहीं है, जो पुश्त दर पुश्त विरासत में मिलती चली जाय। जो व्यक्ति ब्राह्मणत्व के गुण, कर्म, स्वभाव से युक्त हैं, उसे भिक्षा जीविका करनी चाहिए पर यदि उसके बेटे में वे गुण न रहें तो उसे ब्राह्मणत्व के लिए मिलनी वाली भिक्षा ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार संसार को मुक्ति दिलाने के प्रयत्न में अपनी मुक्ति तक को त्यागे हुए जो संन्यासी हैं, वे ही अपनी सेवा के बदले में संसार से भिक्षा ले सकते

*अब यह संख्या सम्भवत: करोड़ों में पहुँच चुकी होगी-प्रकाशक

हैं । जो केवल मात्र अपनी निज की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं, दुनियाँ को झूठा कहते हैं, लोक सेवा से दूर रहते हैं, वे पक्के स्वार्थी हैं, वे अपने निज के लाभ में ही तो प्रवृत्त हैं, चाहे वह लाभ धन का हो, स्वर्ग का हो या मुक्ति का हो । जैसे धन कमाने के लिए ही सदा अपने व्यापार में प्रवृत्त कोई व्यापारी भिक्षा का अधिकारी नहीं, वैसे ही अपनी निज की मुक्ति में तल्लीन योगी, संन्यासी भी भिक्षा के अधिकारी नहीं । जब संसार झूठा है तो भिक्षा भी झूठी है । जब संसार की सेवा से उपेक्षा करते हैं और अपने को उससे अलग मानते है तो फिर भिक्षा से भी अलग रहना चाहिए, उसकी भी उपेक्षा करनी चाहिए । भजन करना व्यक्तिगत नित्य कर्म है । स्नान, भोजन, व्यायाम की भांति भजन भी एक अत्यन्त लाभप्रद नित्यकर्म है । भजन करना किसी दूसरे पर अहसान करना नहीं है । न इसके करने से किसी को भिक्षा लेने का अधिकार मिलता है ।

देखा जाता है कि धर्म के नाम पर या दीनता के नाम पर नाना प्रकार के आडम्बरों, घृणित मायाचारों से भिक्षा उपार्जन की जाती है । इन मायाचारों से जहाँ जनता का पैसा बर्बाद होता है, वहाँ उनके मस्तिष्क में अन्धविश्वास, भ्रम, भय, अज्ञान एवं अविचार का विष भी प्रवेश होता है । पुरुषार्थ, प्रयत्न, कर्म और साहस को छोड़कर लोग आकाश में से देवताओं द्वारा स्वर्ण पुष्प बरसाये जाने की आशा करने लगते हैं । अनेक व्यक्ति अपने कार्यों में दोष ढूँढ़कर उन्हें सुधारने की अपेक्षा दैव कोप की अन्ध कल्पना करके हतोत्साहित हो जाते हैं । धर्म का आडम्बर करके जीविका कमाने वालों के पास विद्या, बल, विवेक, ज्ञान, अनुभव, तप आदि महत्ताऐं तो होती नहीं । इनके न होने पर वे झूठा आधार ग्रहण करते हैं, अपने आपको देवताओं का प्रतिनिधि, कृपापात्र या एजेन्ट साबित करते हैं, जिससे भोली जनता उन्हें दैव कृपा प्राप्त करने के लिए पूजे । यह मायाचार जनता में ऐसे विषैले अन्ध विश्वास पैदा करता है जो संसार में भयंकर अनिष्ट उत्पन्न करता है ।

गरीबी का आडम्बर बना कर भिक्षा माँगने वाले अधिकांश ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनके शरीर में श्रम करने की, जीविका उपार्जन करने की पर्याप्त क्षमता होती है, वे चाहें तो मेहनत-मजूरी करके आसानी से अपना गुजारा कर सकते हैं । पर उन्हें बिना परिश्रम किये, आसानी से जब भिक्षा मिल जाती है तो पसीने बहाने के लिए क्यों तैयार हों ? वे गरीबी के, बीमारी के, विपत्ति के झूठे बहाने बनाकर भिक्षा माँगते रहते हैं । कुछ अत्यन्त

घृणित कोटि के भिक्षुक तो अधिक जीविका कमाने के लिए बड़े लोमहर्षक कार्य करते हैं । वे अपने शरीर में स्वेच्छापूर्वक घाव बनाते हैं, घावों को अच्छा नहीं होने देते, अपने बालकों के नेत्र, हाथ, पैर आदि तोड़-फोड़ देते हैं । इस घृणित काम को वे इसलिए करते हैं कि दर्शक लोग दया द्रवित होकर उन्हें अधिक पैसा दें । गायों या बछड़ों को पाँच पैर का या अधिक अंग का बनाने के लिए कसाइयों द्वारा कलम लगवाई जाती है । एक बछड़े का पैर काटकर और दूसरे बछड़े की पीठ का माँस काटकर इन दोनों को कसाई लोग सी देते हैं । जब तक वह घाव अच्छा नहीं होता तब तक बछड़े को इस प्रकार जकड़ा रहने देते हैं कि वह जरा भी हिल न सके । जब वह जुड़ जाता है तो इसे शिवजी का वाहन-नन्दी बताकर भिखारी लोग भीख माँगते हैं । बहुत से बछड़ों के पैर की जगह माँस का लोथड़ा भी जोड़ देते हैं । इस क्रिया में एक बछड़ा तो आरंभ में ही मार डाला जाता है, दूसरा जिसमें कलम लगाई गई थी या तो मर जाता है या बड़ी मुश्किल से मृत्यु तुल्य कष्ट सहकर जी पाता है । ऐसे निर्दय हिंसा पूर्ण कार्य करते हुए उन्हें तनिक भी दया नहीं आती । धर्मजीवी भिक्षुकों में से भी अनेक ऐसे ही निर्दय हो जाते हैं । देवी-भैरव, भवानी, पीर, मसान आदि के नाम पर बकरा, मेंढ़ा, भैंसा, मुर्गा आदि पशु-पक्षियों का गला काटते और कटवाते हैं ।

अशास्त्रीय भिक्षा पाप रूप है । ऐसा अन्न खाने वालों के रोम-रोम में दुर्गुणों का समावेश हो जाता है । वे झूठ, चोरी, छल, व्यभिचार, मद्यपान, नशेबाजी, ढोंग, पाखण्ड, आलस्य, प्रमाद, हिंसा, असहिष्णुता, अनुदारता आदि असंख्य दोषों से ग्रसित हो जाते हैं । स्वाभिमान एवं स्वावलम्बन नष्ट होने के साथ साथ आत्मा की भव्य ज्योति बुझ जाती है और उनके मन मरघट में पैशाचिक कुविचार नंगा नृत्य करने लगते हैं । अशास्त्रीय भिक्षा का अन्न सद्बुद्धि पर बड़ा घातक आक्रमण करता है और ऐसा अन्न खाने वाले को शीघ्र ही एक घृणित दमनीय नारकीय प्राणी के रूप में परिणत कर देता है । ऐसे प्राणियों को वृद्धि होना किसी भी देश या जाति के लिए एक भारी खतरा है क्योंकि वे प्राणी संक्रामक रोगों के कीटाणुओं की भांति जहाँ भी फिरते हैं, वह अनिष्ट उत्पन्न करते हैं ।

सच्चे यज्ञार्थी भिक्षुकों की अभिवृद्धि किसी भी समाज के लिए गौरव की बात है । त्यागी, परोपकारी, विद्वान, विशेषज्ञ अपने सम्पूर्ण निजी स्वार्थों को तिलांजलि देकर जन कल्याण के कार्य में जुटे रहें, यह बड़ा ही ऊँचा आदर्श

है । जहाँ थोड़ी सी योग्यता वाले मनुष्य अपनी योग्यता के बदले में प्रचुर धन कमा कर ऐश्वर्यवान् बन जाते हैं, वहाँ अपनी महान् तप जनित क्षमताओं को जनता-जनार्दन के चरणों में अर्पित करके केवल भिक्षा के दानों पर निर्वाह करना दैवी त्याग है, ऐसे त्यागियों की वृद्धि होना गौरव की बात है, परन्तु खेद पूर्वक कहना पड़ता है कि ऐसे भिक्षा जीवी अब प्रायः विलुप्त हो चले हैं । अब तो व्यवसायी लोग इस यज्ञ सामग्री की, भिक्षा की लूट कर रहे हैं । यह शर्म, कलंक और दुःख की बात है ।

भिक्षा वृत्ति का सदुपयोग हो, सच्चे भिक्षुकों का हक चोर-लुटेरे न लूटने पावें, इसके लिए भिक्षा देने वालों की जिम्मेदारी बहुत बढ़ी है । उन्हें देखना चाहिए कि माँगने वाला यज्ञार्थाय या विपद् वारणाय ही माँगता है न ? यदि इन दोनों में से कोई प्रयोजन न हो और वह मुफ्त का माल पाने की वृत्ति से माँग रहा हो तो उसे एक तिनका भी देने से मना कर देना चाहिए । अविवेकपूर्वक कुपात्रों को दिया हुआ दान, उस दान दाता को नरक में ले जाता है, क्योंकि उन निठल्ले भिक्षुकों द्वारा फैलने वाली अनैतिकता का उत्तरदायित्व उन अविवेकी दानदाताओं पर ही पड़ता है । यदि उन्हें भिक्षा न मिले तो सीधे रास्ते पर आने के लिए स्वयं ही मजबूर होंगे । परन्तु यदि अविवेकी दाता उनका घड़ा भरते ही रहेंगे तो उनके सुधरने की, सीधे रास्ते पर आने की कोई आशा नहीं करनी चाहिए ।

दान में विवेक आवश्यक है । जो दान के अधिकारी हैं, उन्हें जी खोलकर मुक्त हस्त होकर देना चाहिए । संसार में सात्विकता, सद्भावना, ज्ञान, विवेक तथा सुख-शांति बढ़ाने के लिए एवं विपत्ति ग्रस्तों को संकट से बचाने के लिए हर समय सहायता दी जानी चाहिए । शरीर से, बुद्धि से, पैसे से, यहाँ तक कि प्राण देकर भी विश्व के कष्ट मिटाने और सुख बढ़ाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । सच्चे ब्राह्मणों को, सच्चे साधुओं को, सच्चे ब्रह्म साधकों को, संस्थाओं को ढूँढ़कर उन्हें भिक्षा देनी चाहिए, उनके पुष्ट होने से धर्म की, वैभव की, सुख-शांति की पुष्टि होती है । विपद् ग्रस्तों को उठाकर छाती से लगाना चाहिए, उनके लिए हर समय एवं उचित सहायता पहुँचानी चाहिए । परन्तु सावधान-गौ का ग्रास शृंगाल न छीनने पावे, भिक्षा का हवन शाकल्य यज्ञ कुण्ड में पड़ने की जगह अपवित्र गली में न बह जाय । यज्ञार्थाय और विपद् वारणाय प्रयुक्त न होकर कहीं आपका दान कुपात्रों द्वारा न लूट लिया जाय । इसलिए दान में विवेक की आवश्यकता है ।

तैंतीस कोटि देवता क्या हैं ?

हिन्दू धर्म में अनेक देवी देवताओं की मान्यता है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन प्रधान देवता हैं । दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती देवियाँ एवं इन्द्र, गणेश, वरुण, मरुत, अर्यमा, सूर्य, चन्द्र, भौम, बुद्ध, गुरु, शुक्र, शनि, अग्नि, प्रजापति आदि देवताओं का भी स्थान है । गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियाँ, गोवर्धन, चित्रकूट, विन्ध्याचल आदि पर्वत, तुलसी, पीपल आदि वृक्ष, गौ, बैल आदि पशु, गरुण, नीलकण्ठ आदि पक्षी, सर्प आदि कीड़े भी देवता कोटि में गिने जाते हैं । भूत, प्रेतों से कुछ ऊँची श्रेणी के देवताओं की भैरव, क्षेत्रपाल, यक्ष, ब्रह्मराक्षस, वैताल, पीर, बली, औलिया आदि हैं । फिर ग्राम्य देवताओं और भूत, प्रेत, मसान, चुड़ैल आदि हैं । राम, कृष्ण, नृसिंह, वाराह, वामन आदि अवतारों को भी देवताओं की कोटि में गिना जा सकता है ।

इन देवताओं की संख्या तैंतीस कोटि बताई जाती है । कोटि शब्द के दो अर्थ किये जाते हैं-(१) श्रेणी, (२) करोड़ । तैंतीस प्रकार के, तैंतीस जाति के ये देवता हैं । जाति, श्रेणी या कोटि शब्द बहुवचन के बोधक हैं । इससे समझा जाता है कि हर कोटि में अनेक देव होंगे और तैंतीस कोटियों-श्रेणियों के देव तो सब मिलकर बहुत बड़ी संख्या में होंगे । कोटि शब्द का दूसरा अर्थ 'करोड़' है । उससे तैंतीस करोड़ देवताओं के अस्तित्व का पता चलता है । जो हो यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दू धर्म में देवों की बहुत बड़ी संख्या मानी जाती है । वेदों में भी तीस से ऊपर देवताओं का वर्णन मिलता है ।

देवताओं की इतनी बड़ी संख्या एक सत्य शोधक को बड़ी उलझन में डाल देती है । वह सोचता है कि इतने अगणित देवताओं के अस्तित्व का क्या तो प्रमाण है और क्या उपयोग ? इन देवताओं में अनेक की तो ईश्वर से समता है । इस प्रकार 'बहु ईश्वरवाद' उपज खड़ा होता है । संसार के प्रायः सभी प्रमुख धर्म 'एक ईश्वरवाद' को मानते हैं । हिन्दू धर्म शास्त्रों में भी अनेक अभिवचन एक ईश्वर होने के समर्थन में भरे पड़े हैं । फिर यह अनेक ईश्वर कैसे ? ईश्वर की ईश्वरता में साझेदारी का होना कुछ बुद्धि संगत प्रतीत नहीं होता । अनेक देवताओं का अपनी अपनी मर्जी से मनुष्यों पर शासन करना,

शाप-वरदान देना, सहायता या विघ्न उपस्थित करना एक प्रकार से ईश्वरीय जगत की अराजकता है। कर्म फल के अविचल सिद्धांत की परवाह न करने, भेंट-पूजा से प्रसन्न-अप्रसन्न होकर शाप-वरदान देने वाले देवता लोग एक प्रकार से ईश्वरीय शासन में चोर बजार, घूसखोरी, डाकेजनी एवं अनाचार उत्पन्न करते हैं। इस अवांछनीय स्थिति को सामने देखकर किसी भी सत्य शोधक का सिर चकराने लगता है। वह समझ नहीं पाता कि आखिर यह सब है क्या प्रपंच ?

देवता वाद पर सूक्ष्म रूप से विचार करने से प्रतीत होता है कि एक ही ईश्वर की अनेक शक्तियों के नाम अलग-अलग हैं और उन नामों को ही देवता कहते हैं। जैसे सूर्य की किरणों में सात रंग हैं, उन रंगों के हरा, पीला, लाल, नीला आदि अलग-अलग नाम हैं। हरी किरणें, अल्ट्रा वायलेट किरणें, एक्स किरणें, बिल्डन किरणें आदि अनेक प्रकार की किरणें हैं, उनके कार्य और गुण अलग-अलग होने के कारण उनके नाम भी अलग-अलग हैं, इतने पर भी वे एक ही सूर्य की अंश हैं। अनेक किरणें होने पर भी सूर्य एक ही रहता है, इसी प्रकार एक ही ईश्वर की अनेक शक्तियाँ अपने गुण, कर्म के अनुसार विविध देव नामों से पुकारी जाती हैं तो भी मूलतः ईश्वर एक ही है। एक मात्र ईश्वर ही इस सृष्टि का निर्माता, पालन कर्त्ता और नाश करने वाला है। उस ईश्वर की जो शक्ति निर्माण एवं उत्पत्ति करती है उसे ब्रह्मा, जो पालन, विकास एवं शासन करती है वह विष्णु, जो जीर्णता, अवनति एवं संहार करती है उसे शंकर कहते हैं। दुष्टों को दण्ड देने वाली शक्ति दुर्गा, सिद्धिदाता गणेश, ज्ञानदाता सरस्वती, श्री समृद्धि प्रदान करने वाली लक्ष्मी, जल वर्षाने वाला इन्द्र, उष्णता देने वाली अग्नि, कर्मफल देने वाला यम, बलदाता हनुमान आदि समझने चाहिए। जैसे एक ही मनुष्य के विविध अंगों को हाथ, पैर, नाक, कान, आँख आदि कहते हैं, इसी प्रकार ईश्वरीय सूक्ष्म शक्तियों के उनके गुणों के अनुसार विविध नाम हैं-यही देवता हैं।

केवलयोपनिषद्कार ऋषि का कथन है कि-'स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्र स्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्। स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः॥' अर्थात् वह परमात्मा ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शिवं, अक्षर, स्वराट्, इन्द्र, काल, अग्नि और चन्द्रमा है। इसी प्रकार ऋग्वेद मं० १ सू० १६४ मं० ४६ में कहा गया है कि 'इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्य सुपर्णो गरुत्मान्। एवं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान

माहु ॥ अर्थात् विद्वान लोग ईश्वर को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मान्, दिव्य सुपर्ण, यम, मातरिश्वा नाम से पुकारते हैं । उस एक ईश्वर को ही अनेक नामों से कहते हैं ।

इनसे प्रकट होता है कि देवताओं का पृथक-पृथक अस्तित्व नहीं है, ईश्वर का उसका गुणों के अनुसार देव वाची नामकरण किया है । जैसे अग्नि-तेजस्वी । प्रजापति-प्रजा का पालन करने वाला । इन्द्र-ऐश्वर्यवान । ब्रह्मा-बनाने वाला । विष्णु-व्यापक । रुद्र-भयंकर । शिव-कल्याण करने वाला । मातरिश्वा-अत्यन्त बलवान । वायु-गतिवान । आदित्य-अविनाशी । मित्र-मित्रता रखने वाला । वरुण-ग्रहण करने योग्य । अर्यमा-न्यायवान् । सविता-उत्पादक । कुवेर-व्यापक । बसु-सबमें बसने वाला । चन्द्र-आनन्द देने वाला । मंगल-कल्याणकारी । बुध-ज्ञानस्वरूप । वृहस्पति-समस्त ब्रह्माण्डों का स्वामी । शुक्र-पवित्र । शनिश्चर-सहज में प्राप्त होने वाला । राहु-निर्लिप्त, केतु-निर्दोष । निरंजन-कामना रहित । गणेश-प्रज्ञा का स्वामी । धर्मराज-धर्म का स्वामी । यम-फलदाता । काल-समय रूप । शेष-उत्पत्ति और प्रलय से बचा हुआ । शंकर-कल्याण करने वाला । इसी प्रकार अन्य देवों के नामों का अर्थ ढूँढ़ा जाय तो वह परमात्मा का ही बोध कराता है ।

अब यह प्रश्न उठता है कि इन देवताओं की विविध प्रकार की आकृतियाँ क्यों हैं ? आकृतियों की आवश्यकता किसी बात को कल्पना करने या स्मरण रखने के लिए आवश्यक है । किसी बात पर विचार या ध्यान करने के लिए मस्तिष्क में एक आकृति अवश्य ही बनानी पड़ती है । यदि कोई मस्तिष्क इस प्रकार के मानसिक रोग से ग्रस्त हो कि मन में आकृतियों का चिन्तन न कर सके तो निश्चय ही वह किसी प्रकार का विचार भी न कर सकेगा । जो कीड़े-मकोड़े आकृतियों की कल्पना नहीं कर पाते उनके मन में किसी प्रकार के भाव उत्पन्न नहीं होते । ईश्वर एवं उसकी शक्तियों के संबंध में विचार करने के लिए मनःलोक में स्वतः किसी न किसी प्रकार की आकृति उत्पन्न होती है । इन अदृश्य कारणों से उत्पन्न होने वाली सूक्ष्म आकृतियों का दिव्य दृष्टि से अवलोकन करने वाले योगी जनों ने उन ईश्वरीय शक्तियों की, देवी देवताओं की आकृतियाँ निर्मित की हैं ।

चीन और जापान देश की भाषा लिपि में जो अक्षर हैं वे पेड़, पशु, पक्षी, नदी आदि की आकृति के आधार पर बनाये गये हैं । उन भाषाओं के निर्माताओं का आधार यह था कि जिस वस्तु को पुकारने के लिए जो शब्द

प्रयोग होता था, उस शब्द को उस वस्तु की आकृति का बना दिया । इस प्रणाली में धीरे-धीरे विकास करके एक व्यवस्थित लिपि बना ली गई । देवनागरी लिपि का अक्षर विज्ञान शब्द की सूक्ष्म आकृतियों पर निर्भर है । किसी शब्द का उच्चारण होते ही आकाश में एक आकृति बनती है, उस आकृति को दिव्य दृष्टि से देखकर षट्चक्रों का विज्ञान निर्धारित किया गया है । जो आधार चीनी भाषा की लिपि का है, जो आधार देवनागरी लिपि के अक्षरों का है, जो आधार षट्चक्रों की आकृति का है, उस आधार पर ही देवताओं की आकृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं । जिस ईश्वरीय शक्ति के स्पर्श से मनुष्य के अन्त:करण में जैसे संवेदन उत्पन्न होते हैं, सूक्ष्म शरीर में जैसी मुद्रा बनती है, उसी के आधार पर देवताओं की आकृतियाँ बना दी गई हैं ।

संहार-पतन एवं नाश होते देखकर मनुष्य के मन में वैराग्य का भाव उत्पन्न होता है, इसलिए शंकरजी का रूप वैरागी जैसा है । किसी वस्तु का उत्पादन होने पर वयोवृद्धों के समान हर मनुष्य अपना उत्तरदायित्व समझने लगता है, इसलिए ब्रह्माजी वृद्ध के रूप में हैं । चार वेद या चार दिशाऐं ब्रह्माजी के चार मुख हैं । पूर्णता, प्रौढ़ता की अवस्था में मनुष्य रूपवान, सशक्त, सपत्नीक एवं विलास प्रिय होता है, सहस्रों सर्प सी विपरीत परिस्थितियाँ भी उस प्रौढ़ के अनुकूल बन जाती है । शेष शय्या शायी विष्णु के चित्र में हम इसी भाव की झांकी देखते हैं । लक्ष्मी बड़ी सुन्दर और कमनीय लगती है, उनका रूप वैसा ही है । ज्ञान में, बुद्धि में सौम्यता एवं पवित्रता है, सरस्वती की मूर्ति को हम वैसी ही देखते हैं । क्रोध आने पर हमारी अन्तरात्मा विकराल रूप धारण करती है, उस विकरालता की आकृति ही दुर्गा है । विषय-वासनाओं की मधुर-मधुर अग्नि सुलगाने वाला देवता पुष्प बाणधारी कामदेव है । ज्ञान का देवता गणेश हाथी के समान गंभीर है, उसका पेट ओछा नहीं जिसमें कोई बात ठहरे नहीं, उसके बड़े पेट में अनेक बातें पड़ी रहती हैं और बिना उचित अवसर आये प्रकट नहीं होती । 'जिसके पास अकल होगी, वह लड्डू खायेगा' इस कहावत को हम गणेशजी के साथ चरितार्थ होता देखते हैं। उनकी नाक लम्बी है अर्थात् प्रतिष्ठा ऊँची है । ईश्वर की ज्ञान शक्ति का महत्व दिव्यदर्शी कवि ने गणेश के रूप में चित्रित कर दिया है । इसी प्रकार अनेक देवों की आकृतियाँ विभिन्न कारणों से निर्मित की गई हैं ।

तैंतीस कोटि के देवता माने जाँय तो अनेकों क्षेत्र में काम करने वाली शक्तियाँ तैंतीस हो सकती हैं । शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, धार्मिक,

आर्थिक, पारिवारिक, वैज्ञानिक, भौगोलिक आदि क्षेत्रों की श्रेणियों की गणना की जाय तो उनकी संख्या तैंतीस से कम न होगी । उन कोटियों में परमात्मा की विविध शक्तियाँ काम करती हैं, वे देव ही तो हैं । दूसरी बात यह है कि जिस समय देवतावाद का सिद्धांत प्रयुक्त हुआ, उस समय भारतवर्ष की जनसंख्या ३३ कोटि–तैंतीस करोड़ थी । इस पुण्य भारतभूमि पर निवास करने वाले सभी लोगों के आचरण और विचार देवोपम थे । संसार भर में वे भूसुर (पृथ्वी के देवता) कहकर पुकारे जाते थे । तीसरी बात यह है कि हर मनुष्य के अन्तःकरण में रहने वाला देवता अपने ढंग का आप ही होता है । जैसे किन्हीं दो व्यक्तियों की शक्ल–सूरत आपस में पूर्ण रूप से नहीं मिलती वैसी ही सब मनुष्यों के अन्तःकरण भी एक से नहीं होते, उनमें भी कुछ न कुछ अन्तर रहता ही है । इस भेद के कारण हर मनुष्य के विचार, विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा के द्वारा बना हुआ अन्तःकरण रूपी देवता पृथक–पृथक हैं । इस प्रकार तैंतीस कोटि मनुष्यों के देवता भी तैंतीस कोटि ही होते हैं ।

देवताओं की आकृतियाँ चित्रों के रूप में और मूर्तियों के रूप में हम देखते हैं । कागज पर अंकित किये गये चित्र अस्थायी होते हैं, पर पाषाण एवं धातुओं की मूर्तियाँ चिरस्थायी होती हैं । साधना विज्ञान के आचार्यों का अभिमत है कि ईश्वर की जिस शक्ति को अपने में अभिप्रेत करना हो, उसका विचार, चिन्तन, ध्यान और धारणा करना चाहिए । विचार शक्ति का चुम्बकत्व ही मनुष्य के पास एक ऐसा अस्त्र है जो अदृश्य लोक की सूक्ष्म शक्तियों को खींच–खींच कर लाता है । धनवान बनने के लिए धन का चिन्तन और विद्वान बनने के लिए विद्या का चिन्तन आवश्यक है । संसार का जो भी मनुष्य जिस विषय में आगे बढ़ा है, पारंगत हुआ है, उसमें उसने एकाग्रता और आस्था उत्पन्न की है । इसका एक आध्यात्मिक उपाय है कि कि ईश्वर की उस शक्ति का चिन्तन किया जाय । चिन्तन के लिए आकृति की आवश्यकता है । उस आकृति की मूर्ति या चित्र के आधार पर हमारी कल्पना उसे आसानी से ग्रहण कर सकती है । इस साधन की सुविधा के लिए मूर्तियों का आविर्भाव हुआ है ।

धनवान बनने के लिए सबसे पहले धन के प्रति प्रगाढ़ प्रेम भाव होना चाहिए । बिना इसके धन कमाने की योजना अधूरी और असफल रहेगी, क्योंकि पूरी दिलचस्पी और रुचि के बिना कोई कार्य पूरी सफलता तक नहीं पहुँच सकता । धन के प्रति प्रगाढ़ प्रेम, विश्वास, आशा और आश्वासन पाने के

लिए आध्यात्मिक शास्त्र के अनुसार मार्ग यह है कि ईश्वर की धन शक्ति को, लक्ष्मीजी को अपने मानस लोक में प्रमुख स्थान दिया जाय । चूँकि ईश्वर की धन शक्ति का रूप दिव्यदर्शियों ने लक्ष्मीजी जैसा निर्धारित किया है, अतएव लक्ष्मीजी की आकृति, गुण, कर्म, स्वभाव युक्त उनकी छाया मन में धारण की जाती है । इस ध्यान साधना में मूर्ति बड़ी सहायक होती है । लक्ष्मीजी की मूर्ति की उपासना करने से मानस लोक में धन के भाव उत्पन्न होते हैं और वे भाव ही अभीष्ट सफलता तक ले पहुँचते हैं । इस प्रकार लक्ष्मीजी की उपासना से श्री वृद्धि होने में सहायता मिलती है । यही बात गणेश, शिव, विष्णु, हनुमान, दुर्गा आदि देवताओं के संबंध में है ।

इष्ट देव चुनने का उद्देश्य भी यही है । जीवन लक्ष्य नियुक्त करने को ही आध्यात्मिक भाषा में इष्ट देव चुनना कहा जाता है । अखाड़ों में, व्यायामशालाओं में हनुमानजी की मूर्तियाँ दीखती हैं । व्यापारी लोग लक्ष्मीजी की उपासना करते हैं । साधु-संन्यासी शिवजी का इष्ट रखते हैं । गृहस्थ लोग विष्णु (राम, कृष्ण आदि अवतार) को भजते हैं । शक्ति के इच्छुक दुर्गा को पूजते हैं । स्थूल दृष्टि से देखने में यह देवता अनेक मालूम पड़ते हैं, उपासकों की साधना में अन्तर दिखाई देता है पर वास्तव में कोई अन्तर है नहीं । मान लीजिए माता के कई बालक हैं, एक बालक रोटी खाने के लिए रसोई घर में बैठा है, दूसरा धुले कपड़ों की माँग करता हुआ कपड़ों के बक्स के पास खड़ा है, तीसरा पैसे लेने के लिए माता का बटुआ टटोल रहा है, चौथा गोदी मे चढ़ने के लिए मचल रहा है । बालकों की आकांक्षाऐं भिन्न हैं, वे माता के उसी गुण पर सारा ध्यान लगाये बैठे हैं, जिसकी उन्हें आवश्यकता है । गोदी के लिए मचलने वाले बालक के लिए माता एक मुलायम पालना या बढ़िया घोड़ा है । पैसे चाहने वाले बालक के लिए वह एक चलती फिरती बैंक है, भोजन के इच्छुक के लिए वह एक हलवाई है, कपड़े चाहने वाले के लिए वह घरेलू दर्जी या धोबी है । चारों बालक अपनी इच्छा के अनुसार माता को पृथक-पृथक दृष्टि से देखते हैं, उससे पृथक-पृथक आशा करते हैं, फिर भी माता एक ही है । यही बात विभिन्न देव पूजकों के बारे में कही जा सकती है । वस्तुतः इस विश्व में एक ही सत्ता है, परमात्मा एक ही है । उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं, तो भी मनुष्य अपने विचार एवं साधना की दृष्टि से उसकी शक्तियों को पृथक-पृथक देवताओं के रूप में मान लेता है ।

श्रीमद् भगवद्गीता के अध्याय ९ श्लोक २३ में इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है-

येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम् ॥

अर्थात्-हे अर्जुन ! जो भक्त अन्य देवताओं को श्रद्धा पूर्वक पूजते हैं, वे भी अविधि पूर्वक मुझे ही पूजते हैं ।

गीता के अध्याय ११ श्लोक ३९ में अर्जुन कहता है-

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्र कृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

अर्थात्-वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशि, प्रजापति आदि आप ही हैं, आपको बार-बार नमस्कार है ।

जैसे सब नदियों का जल समुद्र में जाता है, वैसे ही सब देवों को किया हुआ नमस्कार केशव के लिए ही जाता है-'सर्वदेव नमस्कारं केशवं प्रति गच्छति ।'

इन सब बातों पर विचार करने के उपरान्त हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि वस्तुतः निखिल विश्व ब्रह्माण्ड का एक ही देव परमात्मा है । विभिन्न देवता उसी की शक्तियों के विभिन्न नाम हैं । इन देवताओं का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है ।

देवताओं की मूर्तियाँ परमात्मा की उन शक्तियों का स्मरण दिलाने के लिए हैं । कागज पर लिखे हुए अक्षर स्वतः कोई वस्तु नहीं है पर उन अक्षरों को पढ़ने से वस्तुओं का स्वरूप सामने आ जाता है । जैसे 'हाथी' यह दो अक्षर जहाँ लिखे हैं, उस स्थान पर कोई पशु अवस्थित भले ही न हो पर इन दो अक्षरों को पढ़ते ही उस विशालकाय हाथी का चित्र मस्तिष्क में दौड़ जाता है । भक्ति रस के भजन पढ़ने से मनुष्य का हृदय भक्तिभाव में सराबोर हो जाता है और घासलेटी पुस्तकें पढ़ने से विषय-वासना, व्यभिचार आदि के दूषित भाव मन में घुड़दौड़ मचाने लगते हैं । अक्षर एक प्रकार के चित्र हैं, उन चित्रों से मन में आकृतियाँ आती हैं और फिर उन आकृतियों से संबंधित भाव-कुभाव मन में उत्पन्न होते हैं । महापुरुषों के चित्रों एवं मूर्तियों को यदि हम आदर पूर्वक श्रद्धांजलि चढावें तो स्वभावतः उनके गुणों का प्रभाव, छाया मनः पटल पर अंकित होती है । मूर्तियाँ एक प्रकार की पुस्तकें हैं, वे अपने संबंधित विषय की भावनाऐं दर्शक के मन में उत्पन्न करती हैं । मूर्ति पूजा का यही तात्पर्य है ।

मंदिरों की स्थापना, उनमें भोग-प्रसाद, भेंट-दक्षिणा चढ़ाना क्यों होता है ? इसके संबंध में हम अपनी 'ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?' पुस्तक में सविस्तार लिख चुके हैं । मंदिरों का प्रारम्भ एक धर्म संस्था के रूप में हुआ था, मंदिर के साथ-साथ पाठशाला, पुस्तकालय, औषधालय, व्यायामशाला, संगीतशाला, प्रार्थना भवन, उपदेश मंच आदि अनेक सार्वजनिक प्रवृत्तियाँ जुड़ी रहती थीं । उन प्रवृत्तियों का संचालन करने के लिए एक निस्पृह त्यागी, विद्वान, परोपकारी ब्राह्मण रहता था, जिसे गुरु, पुरोहित, आचार्य या पुजारी कहते थे । उस पुरोहित के जीवन निर्वाह के लिए एवं मंदिर से संबंधित प्रवृत्तियों के आयोजन के लिए जनता स्वेच्छापूर्वक धर्म भाव से दान करती थी । यह दान मंदिरों में देव मूर्तियों के सम्मुख भोग, प्रसाद, भेंट, दक्षिणा आदि के रूप में चढ़ाया जाता था । उस धन से मंदिर रूपी सार्वजनिक संस्था चलती थी और जनता को उस भेंट पूजा की अपेक्षा अनेक गुना लाभ पहुँचाती थी ।

आज समय के प्रभाव, अज्ञान एवं अन्धश्रद्धा के कारण देववाद में भारी दोष आ गये हैं । देवता के सामने निरीह पशुओं का बलिदान, मंदिर के चढ़ावे का लोक सेवा में व्यय न होना, मंदिर से संबंधित सार्वजनिक प्रवृत्तियों का न होना, देवताओं को घूँसखोर, जालिम एवं पक्षपाती हाकिमों की तरह समझना, देवताओं की कृपा से बिना प्रयत्न के सम्पदाऐं मिलने की आशा करना, उनमें अलौकिक चमत्कारों का मानना, मंदिरों का व्यक्तिगत तुच्छ स्वार्थों के लिए उपयोग होना आदि अनेक दोष आज 'देवतावाद' के साथ जुड़ गये हैं, इनका संशोधन और निराकरण होना आवश्यक है । इन दोषों के कारण जनता को हानि होती है और इस पवित्र एवं महत्वपूर्ण तथ्य को कलंकित होना पड़ता है ।

हिन्दू धर्म देवताओं की पूजा करना स्वीकार करता है । 'देव' का अर्थ है-देने वाला । 'लेव' का अर्थ है-लेने वाला । देव वे हैं जो परोपकारी, लोक सेवी, सदाचारी, सत्यनिष्ठ, विद्वान हैं एवं सद्गुणों से परिपूर्ण हैं । ऐसे देवताओं की पूजा, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, अर्थ व्यवस्था करना सर्वसाधारण का पुनीत कर्तव्य है । उनका आदर्श हमें तथा हमारी भावी पीढ़ी को प्रकाश देता रहे, इसलिए देवताओं के स्मारक स्थापित करना उचित एवं आवश्यक है ।

परमात्मा की महामहिमा को हमारी मनोभूमि में भरने वाली उसकी महाशक्तियाँ यदि चित्र रूप में, मूर्ति रूप में, अक्षर रूप में, विचार या

विश्वास रूप में हमारे सामने उपस्थित रहें तो उससे लाभ की ही आशा है । हमारा देवतावाद मिथ्या भ्रमों, अन्धविश्वासों एवं निर्मूल कल्पनाओं के ऊपर अवलम्बित नहीं है, वरन् मनोविज्ञान, अध्यात्म विज्ञान एवं सूक्ष्म शक्तियों के विज्ञान द्वारा अनुमोदित है । हमें देवत्व पर विश्वास करना चाहिए और उसकी उपासना भी ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा